**एष ह वा उदक्प्रवणो यज्ञो यत्रैवंविद्ब्रह्मा भवत्येवंविदꣳह वा एषा ब्रह्माणमनुगाथा यतो यत आवर्तते तत्तद्गच्छति॥ ९॥**

जहाँ इस प्रकार जाननेवाला ब्रह्मा होता है वह यज्ञ उदक्प्रवण होता है। इस प्रकार जाननेवाले ब्रह्माके उद्देश्यसे ही यह गाथा प्रसिद्ध है कि "जहाँ-जहाँ कर्म आवृत्त होता है वहीं वह पहुँच जाता है"॥ ९॥

**एष ह वा उदक्प्रवण उदङ्निम्नो दक्षिणोच्छ्रायो यज्ञो भवति, उत्तरमार्गप्रतिपत्तिहेतुरित्यर्थः, यत्रैवंविद्ब्रह्मा भवति। एवंविदं ह वै ब्रह्माणमृत्विजं प्रत्येषानुगाथा ब्रह्मणः स्तुतिपरा—यतो यत आवर्तते कर्म प्रदेशादृत्विजां यज्ञः क्षतीभवंस्तत्तद्यज्ञस्य क्षतरूपं प्रतिसंदधत्प्रायश्चित्तेन गच्छति परिपालयतीत्येतत्॥ ९॥**

जहाँ इस प्रकार जाननेवाला ब्रह्मा होता है वह यज्ञ उदक्प्रवण—उत्तरकी ओर झुका हुआ और दक्षिण ओर उठा हुआ—अर्थात् उत्तरमार्गकी प्राप्तिका हेतु होता है। इस प्रकार जाननेवाले ब्रह्मा ऋत्विक्के विषयमें ही ब्रह्माकी स्तुति करनेवाली यह अनुगाथा है—जिस-जिस प्रदेशसे कर्म आवृत्त होता है अर्थात् होता आदि ऋत्विजोंका यज्ञ क्षतयुक्त होता है उस-उस यज्ञके क्षतकी प्रायश्चित्तसे पूर्ति करता हुआ ब्रह्मा जाता है अर्थात् यज्ञकर्ताकी सब प्रकार रक्षा करता है॥ ९॥

**मानवो ब्रह्मैवैक ऋत्विक्कुरूनश्वाभिरक्षत्येवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानꣳसर्वाꣳश्चर्त्विजोऽभिरक्षति तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं नानेवंविदम्॥ १०॥**

एक मानव ब्रह्मा ही ऋत्विक् है। जिस प्रकार युद्धमें घोड़ी योद्धाओंकी रक्षा करती है उसी प्रकार ऐसा जाननेवाला ब्रह्मा यज्ञ, यजमान और अन्य समस्त ऋत्विजोंकी भी सब ओरसे रक्षा करता है। अतः

इस प्रकार जाननेवालेको ही ब्रह्मा बनावे, ऐसा न जाननेवालेको नहीं, ऐसा न जाननेवालेको नहीं ॥ १० ॥

**मान वो ब्रह्मा मौनाचरणान्मननाद्वा ज्ञानवत्त्वात्ततो ब्रह्मैवैकर्त्विक्कुरून्कर्तॄन् योद्धनारूढानश्वा बडवा यथाभिरक्षत्येवंविद् ह वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्चऋत्विजोऽभिरक्षति तत्कृतदोषापनयनात्। यत एवं विशिष्टो ब्रह्मा विद्वान्, तस्मादेवंविदम् एव यथोक्तव्याहृत्यादिविदं ब्रह्माणं कुर्वीत, नानेवंविदं कदाचनेति। द्विरभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्त्यर्थः ॥ १० ॥**

मौनाचरण करनेसे अथवा मनन करनेके कारण ब्रह्मा मानव है; अतः ज्ञानवान् होनेके कारण ब्रह्मा ही एक ऋत्विक् है। जिस प्रकार युद्धमें घोड़ी 'कुरून्'—कर्ताओंकी यानी अपनी पीठपर चढ़े हुए योद्धाओंकी सब प्रकारसे रक्षा करती है उसी प्रकार ऐसा जाननेवाला ब्रह्मा भी यज्ञ, यजमान और समस्त ऋत्विजोंकी, उनके किये हुए दोषोंकी निवृत्ति करके, सब ओरसे रक्षा करता है। क्योंकि विद्वान् ब्रह्मा ऐसा विशिष्टगुणसम्पन्न होता है इसलिये इस प्रकार—उपर्युक्त व्याहृति आदिका ज्ञान रखनेवालेको ही ब्रह्मा बनावे; इस प्रकार न जाननेवालेको कभी न बनावे। 'नानेवंविदं नानेवंविदम्' यह द्विरुक्ति अध्यायकी समाप्तिके लिये है ॥ १० ॥

**इतिच्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये सप्तदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १७ ॥**

**इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ छान्दोग्योपनिषद्विवरणे चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥ ४ ॥**

# पञ्चमोऽध्यायः

## प्रथम खण्ड

सगुणब्रह्मविद्याया उत्तरा गतिरुक्ता। अथेदानीं

उपक्रमः

पञ्चमेऽध्याये पञ्चाग्निविदो गृहस्थस्योर्ध्वरेतसां च श्रद्धालूनां विद्यान्तरशीलिनां तामेव गतिमनूद्यान्या दक्षिणदिक्संबन्धिनी केवलकर्मिणां धूमादिलक्षणा पुनरावृत्तिरूपा, तृतीया च ततः कष्टतरा संसारगतिः, वैराग्यहेतोर्वक्तव्या इत्यारभ्यते। प्राणः श्रेष्ठो वागादिभ्यः प्राणो वाव संवर्ग इत्यादि च बहुशोऽतीते ग्रन्थे प्राणग्रहणं कृतम्, स कथं श्रेष्ठो वागादिषु सर्वैः संहत्यकारित्वाविशेषे, कथं

[गत अध्यायमें] सगुण ब्रह्मविद्याकी उत्तर (उत्तरायण मार्गरूपा) गति कह दी गयी। अब इसके अनन्तर पञ्चम अध्यायमें पञ्चाग्निवेत्ता गृहस्थ तथा अन्य विद्याओंमें निष्ठा रखनेवाले श्रद्धालु ऊर्ध्वरेताओंकी उसी गतिका अनुवाद कर केवल कर्मपरायण पुरुषोंकी उससे भिन्न दक्षिण दिशासे सम्बन्ध रखनेवाली धूमादिलक्षणा पुनरावृत्तिरूपा गति और तीसरी उससे भी विलष्टतर संसारगतिका वैराग्यके लिये वर्णन करना है—इसीसे आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है। वागादिकी अपेक्षा प्राण श्रेष्ठ है; क्योंकि गत ग्रन्थमें 'प्राण ही संवर्ग है' इत्यादि अनेकों प्रकारसे प्राणका ग्रहण किया गया है। 'सबके साथ मिलकर कार्य करनेमें समानता होनेपर भी वह वागादि इन्द्रियोंमें श्रेष्ठ क्यों है? और क्यों

च तस्योपासनमिति तस्य श्रेष्ठत्वादिगुणविधित्सयेदमनन्तरमारभ्यते—

उसकी उपासना करनी चाहिये ?'—इस शङ्काकी निवृत्तिके लिये उसके श्रेष्ठत्व आदि गुणोंका विधान करनेकी इच्छासे यह आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है—

*ज्येष्ठश्रेष्ठादिगुणोपासना*

**यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥ १ ॥**

जो ज्येष्ठ और श्रेष्ठको जानता है वह ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है। निश्चय ही प्राण ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है ॥ १ ॥

यो ह वै कश्चिज्ज्येष्ठं च प्रथमं वयसा श्रेष्ठं च गुणैरभ्यधिकं वेद, स ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति। फलेन पुरुषं प्रलोभ्याभिमुखीकृत्याह—प्राणो वाव ज्येष्ठश्च वयसा वागादिभ्यः। गर्भस्थे हि पुरुषे प्राणस्य वृत्तिर्वागादिभ्यः पूर्वं लब्धात्मिका भवति, यया गर्भो विवर्धते। चक्षुरादिस्थानावयवनिष्पत्तौ सत्यां पश्चाद्वागादीनां वृत्तिलाभ इति प्राणो ज्येष्ठो वयसा भवति। श्रेष्ठत्वं तु प्रतिपादयिष्यति सुहय इत्यादिनिदर्शनेन। अतः प्राण एव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्चास्मिन्कार्यकरणसंघाते ॥ १ ॥

जो कोई ज्येष्ठ—आयुमें प्रथम और श्रेष्ठ—गुणोंमें अधिकको जानता है वह निश्चय ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है। इस प्रकार फलके द्वारा पुरुषको प्रलोभित कर उसे प्राणोपासनाके अभिमुख कर श्रुति कहती है—वागादिकी अपेक्षा प्राण ही आयुमें ज्येष्ठ है, क्योंकि पुरुषके गर्भस्थ होनेपर वागादिकी अपेक्षा प्राणकी वृत्ति पहले लब्धस्वरूप होती है, जिससे कि गर्भ बढ़ता है। वागादिकी वृत्तियोंका लाभ तो चक्षुरादि गोलक और अवयवोंके निष्पन्न हो जानेके अनन्तर होता है; इसलिये आयुकी दृष्टिसे प्राण ज्येष्ठ है। तथा उसकी श्रेष्ठताका तो 'सुहयः' इत्यादि दृष्टान्तद्वारा [बारहवें मन्त्रमें] प्रतिपादन किया जायगा। अतः इस कार्यकरणसंघातमें प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है ॥ १ ॥

**यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठो ह स्वानां भवति वाग्वाव वसिष्ठः ॥ २ ॥**

जो कोई वसिष्ठको जानता है वह स्वजातियोंमें वसिष्ठ होता है; निश्चय ही वाक् वसिष्ठ है ॥ २ ॥

**यो ह वै वसिष्ठं वसितृ तमाच्छादयितृतमं वसुमत्तमं वा यो वेद स तथैव वसिष्ठो ह भवति स्वानां ज्ञातीनाम्। कस्तर्हि वसिष्ठः? इत्याह—वाग्वाव वसिष्ठः, वाग्मिनो हि पुरुषा वसन्त्यभिभवन्त्यन्यान्वसुमत्तमाश्च, अतो वाग्वसिष्ठः ॥ २ ॥**

जो कोई वसिष्ठ—अत्यन्त बसनेवाले अर्थात् आच्छादन करनेवालेको अथवा अत्यन्त वसुमान् (धनवान्)-को जानता है वह उसी प्रकार अपने सजातियोंमें वसिष्ठ होता है। अच्छा तो वसिष्ठ कौन है? इसपर श्रुति कहती है—निश्चय ही वाक् वसिष्ठ है; क्योंकि वाग्मी (श्रेष्ठ वक्ता) लोग ही बसते अर्थात् दूसरोंका पराभव करते हैं; और अधिक धनवान् भी होते हैं; अतः वाक् ही वसिष्ठ है ॥ २ ॥

**यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठत्यस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा ॥ ३ ॥**

जो कोई प्रतिष्ठाको जानता है वह इस लोक और परलोकमें प्रतिष्ठित होता है; चक्षु ही प्रतिष्ठा है ॥ ३ ॥

**यो ह वै प्रतिष्ठां वेद स अस्मिँल्लोकेऽमुष्मिंश्च परे प्रतितिष्ठति ह। का तर्हि प्रतिष्ठा? इत्याह—चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा। चक्षुषा हि पश्यन्समे च दुर्गे**

जो कोई प्रतिष्ठाको जानता है वह इस लोक और परलोकमें प्रतिष्ठित होता है। अच्छा तो प्रतिष्ठा क्या है? इसपर श्रुति कहती है—चक्षु ही प्रतिष्ठा है, क्योंकि चक्षुसे देखकर ही पुरुष

च प्रतितिष्ठति यस्मात्, अतः प्रतिष्ठा चक्षुः॥ ३॥

सम और विषम प्रदेशमें स्थित होता है; इसलिये चक्षु ही प्रतिष्ठा है॥ ३॥

**यो ह वै संपदं वेद सꣳहास्मै कामाः पद्यन्ते दैवाश्च मानुषाश्च श्रोत्रं वाव संपत्॥ ४॥**

जो कोई सम्पद्को जानता है उसे दैव और मानुष काम (भोग) सम्यक् प्रकारसे प्राप्त होते हैं। श्रोत ही सम्पद् है॥ ४॥

**यो ह वै संपदं वेद तस्मा अस्मै दैवाश्च मानुषाश्च कामाः संपद्यन्ते ह। का तर्हि संपद्? इत्याह—श्रोत्रं वाव संपत्। यस्माच्छ्रोत्रेण वेदा गृह्यन्ते तदर्थविज्ञानं च, ततः कर्माणि क्रियन्ते, ततः कामसंपत्। इत्येवं कामसंपद्धेतुत्वाच्छ्रोत्रं वा संपत्॥ ४॥**

जो कोई सम्पद्को जानता है उसे दैव और मानुष भोग सम्यक् प्रकारसे प्राप्त होते हैं। अच्छा तो सम्पद् क्या है? इसपर श्रुति कहती है—श्रोत्र ही सम्पद् है, क्योंकि श्रोत्रसे वेद और उनके अर्थका विशेष ज्ञान ग्रहण किये जाते हैं, फिर कर्म किये जाते हैं और तदनन्तर भोगोंकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार भोगोंकी प्राप्तिके हेतु होनेके कारण श्रोत्र ही सम्पद् हैं॥ ४॥

**यो ह वा आयतनं वेदायतनꣳह स्वानां भवति मनो ह वा आयतनम्॥ ५॥**

जो आयतनको जानता है वह स्वजातियोंका आयतन (आश्रय) होता है। निश्चय ही मन आयतन है॥ ५॥

**यो ह वा आयतनं वेदायतनं ह स्वानां भवत्याश्रयो भवतीत्यर्थः। किं तदायतनम्? इत्याह**

जो आयतनको जानता है वह स्वजनोंका आयतन होता है अर्थात् उनका आश्रय बन जाता है। वह आयतन क्या है?

मनो ह वा आयतनम्। इन्द्रियोपहृतानां विषयाणां भोक्त्रर्थानां प्रत्ययरूपाणां मन आयतनमाश्रयः; अतो मनो ह वा आयतनमित्युक्तम्॥५॥

इसपर श्रुति कहती है—मन ही आयतन है। इन्द्रियोंद्वारा लाये हुए एवं भोक्ताके प्रत्ययरूप विषयोंका मन ही आयतन यानी आश्रय है; इसलिये मन ही आयतन है—ऐसा कहा गया है॥५॥

*इन्द्रियोंका विवाद*

**अथ ह प्राणा अहꣳश्रेयसि व्यूदिरेऽहꣳश्रेयानस्म्यꣳह श्रेयानस्मीति॥६॥**

एक बार प्राण (इन्द्रियाँ) 'मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ' इस प्रकार अपनी श्रेष्ठताके लिये विवाद करने लगे॥६॥

अथ ह प्राणा एवं यथोक्तगुणाः सन्तः अहंश्रेयसि 'अहं श्रेयानस्मि अह श्रेयानस्मि' इत्येतस्मिन्प्रयोजने व्यूदिरे नाना विरुद्धं चोदिर उक्तवन्तः॥६॥

एक बार इस प्रकार पूर्वोक्त गुणोंसे युक्त प्राण अपनी श्रेष्ठताके लिये 'मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ' इस प्रयोजनसे विवाद करने लगे; अर्थात् बहुत-सी विरुद्ध बातें कहने लगे॥६॥

*प्रजापतिका निर्णय*

**ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुर्भगवन्को नः श्रेष्ठ इति तान्होवाच यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठ इति॥७॥**

उन प्राणोंने अपने पिता प्रजापतिके पास जाकर कहा—'भगवन्! हममें कौन श्रेष्ठ है?' प्रजापतिने उनसे कहा—'तुममेंसे जिसके निकल जानेपर शरीर अत्यन्त पापिष्ठ-सा दिखायी देने लगे वही तुममें श्रेष्ठ है'॥७॥

ते ह ते हैवं विवदमाना आत्मनः श्रेष्ठत्वविज्ञानाय प्रजापतिं पितरं जनयितारं कञ्चिदेत्योचुरुक्तवन्तः—हे भगवन्को नोऽस्माकं मध्ये श्रेष्ठोऽभ्यधिको गुणैः? इत्येवं पृष्टवन्तः। तान्पितोवाच ह—यस्मिन्वो युष्माकं मध्य उत्क्रान्ते शरीरमिदं पापिष्ठमिवातिशयेन जीवतोऽपि समुत्क्रान्तप्राणं ततोऽपि पापिष्ठतरमिवातिशयेन दृश्येत कुणपमस्पृश्यमशुचि दृश्येत, स वो युष्माकं श्रेष्ठः, इत्यवोचत्काक्का तद्दुःखं परिजिहीर्षुः ॥ ७ ॥

इस प्रकार विवाद करते हुए वे अपनी श्रेष्ठताको विशेषरूपसे जाननेके लिये प्रजापति—अपने पिता यानी किसी उत्पत्तिकर्ताके पास जाकर बोले—'हे भगवन्! हम सबमें कौन श्रेष्ठ है?' अर्थात् गुणोंके कारण कौन सबसे बढ़ा-चढ़ा है—ऐसा पूछा। उनसे पिताने कहा—'तुममेंसे जिसके उत्क्रमण करनेपर यह शरीर अतिशय पापिष्ठ-सा अर्थात् जीवित रहते हुए भी प्राणहीन तथा उससे भी अत्यन्त निकृष्ट-सा दिखायी दे और शवके समान अस्पृश्य एवं अपवित्र जान पड़े वही तुममें श्रेष्ठ है।' इस प्रकार उनके दुःखकी निवृत्ति चाहते हुए प्रजापतिने काकुसे [अर्थात् स्वरभङ्गरूप उपायविशेषसे] उत्तर दिया॥ ७॥

*वागिन्द्रियकी परीक्षा*

तथोक्तेषु पित्रा प्राणेषु—

प्राणोंके प्रति पिताद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर—

**सा ह वागुच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति? यथा कला अवदन्तः प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह वाक्॥ ८॥**

उस वाक् इन्द्रियने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष प्रवास करनेके अनन्तर फिर लौटकर पूछा 'मेरे बिना तुम कैसे जीवित रह सके?'

[उन्होंने कहा—] 'जिस प्रकार गूँगे लोग बिना बोले प्राणसे प्राणनक्रिया करते, नेत्रसे देखते, कानसे सुनते और मनसे चिन्तन करते हुए जीवित रहते हैं उसी प्रकार [हम भी जीवित रहे]।' ऐसा सुनकर वाक् इन्द्रियने शरीरमें प्रवेश किया॥ ८॥

**सा ह वागुच्चक्रामोत्क्रान्तवती। सा चोत्क्रम्य संवत्सरमात्रं प्रोष्य स्वव्यापारान्निवृत्ता सती पुनः पर्येत्येतरान्प्राणानुवाच—कथं केन प्रकारेणाशकत शक्तवन्तो यूयं मदृते मां विना जीवितुं धारयितुमात्मानमिति, ते होचुर्यथा कला इत्यादि। कला मूका यथा लोकेऽवदन्तो वाचा जीवन्ति। कथम्? प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवं सर्वकरणचेष्टां कुर्वन्त इत्यर्थः; एवं वयमजीविष्मेत्यर्थः। आत्मनोऽश्रेष्ठतां प्राणेषु बुद्ध्वा प्रविवेश ह वाक्पुनः स्वव्यापारे प्रवृत्ता बभूवेत्यर्थः॥ ८॥**

उस वाक् इन्द्रियने उत्क्रमण किया। तथा उसने उत्क्रमण कर केवल एक वर्ष प्रवास करनेके अनन्तर—अपने व्यापारसे निवृत्त रहकर फिर लौटकर अन्य प्राणोंसे कहा—'तुमलोग मेरे बिना कैसे किस प्रकारसे जीवित रह सके?' तब उन्होंने 'जिस प्रकार गूँगे' इत्यादि उत्तर दिया। जिस प्रकार 'कलाः'—गूँगेलोग संसारमें वाणीसे बिना बोले भी जीवित रहते हैं—किस प्रकार?—प्राणसे प्राणन करते हुए, नेत्रसे देखते हुए, कानसे सुनते हुए और मनसे चिन्तन करते हुए, तात्पर्य यह है कि इस प्रकार समस्त इन्द्रियोंकी चेष्टाएँ करते हुए जीवित रहते हैं उसी प्रकार हम भी जीवित रहे। तब प्राणोंमें अपनी अश्रेष्ठता समझकर वाक् इन्द्रियने प्रवेश किया; अर्थात् वह पुनः अपने व्यापारमें प्रवृत्त हो गयी॥ ८॥

*चक्षुकी परीक्षा*

**चक्षुर्होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति? यथान्धा अपश्यन्तः**

**प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह चक्षुः॥ ९॥**

[फिर] चक्षुने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष प्रवास करनेके अनन्तर फिर लौटकर पूछा—'मेरे बिना तुम कैसे जीवित रह सके?' [उन्होंने कहा—] 'जिस प्रकार अन्धे लोग बिना देखे प्राणसे प्राणन करते, वाणीसे बोलते, कानसे सुनते और मनसे चिन्तन करते हुए जीवित रहते हैं उसी प्रकार [हम भी जीवित रहे]।' ऐसा सुनकर चक्षुने प्रवेश किया॥ ९॥

*श्रोत्रकी परीक्षा*

**श्रोत्रꣳहोच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति? यथा बधिरा अशृण्वन्त प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह श्रोत्रम्॥ १०॥**

[तदनन्तर] श्रोत्रने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष प्रवास करनेके अनन्तर फिर लौटकर पूछा—'मेरे बिना तुम कैसे जीवित रह सके?' [उन्होंने कहा—]जिस प्रकार बहरे मनुष्य बिना सुने प्राणसे प्राणन करते, वाणीसे बोलते, नेत्रसे देखते और मनसे चिन्तन करते हुए जीवित रहते हैं, उसी प्रकार [हम भी जीवित रहे]।' यह सुनकर श्रोत्रने शरीरमें प्रवेश किया॥ १०॥

*मनकी परीक्षा*

**मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति? यथा बाला अमनसः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेणैवमिति प्रविवेश ह मनः॥ ११॥**

[तत्पश्चात्] मनने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष प्रवास कर फिर लौटकर कहा—'मेरे बिना तुम कैसे जीवित रह सके?' [उन्होंने कहा—] 'जिस प्रकार बच्चे, जिनका कि मन विकसित नहीं होता, प्राणसे प्राणनक्रिया करते, वाणीसे बोलते, नेत्रसे देखते और कानसे सुनते हुए जीवित रहते हैं उसी प्रकार [हम भी जीवित रहे]।' यह सुनकर मनने भी प्रवेश किया॥ ११॥

**समानमन्यत्, चक्षुर्होच्चक्राम श्रोत्रं होच्चक्राम मनो होच्चक्रामेत्यादि। यथा बाला अमनसोऽप्ररूढमनस इत्यर्थः॥ ९—११॥**

चक्षुने उत्क्रमण किया, श्रोत्रने उत्क्रमण किया एवं मनने उत्क्रमण किया इत्यादि शेष समस्त श्रुतियोंका तात्पर्य समान है। जिस प्रकार बालक 'अमना'—अप्ररूढमना अर्थात् जिनका मन विकसित नहीं हुआ है ऐसा इसका तात्पर्य है॥ ९—११॥

*प्राणकी परीक्षा और विजय*

**एवं परीक्षितेषु वागादिषु—**

इस प्रकार वागादिकी परीक्षा हो चुकनेपर—

**अथ ह प्राण उच्चिक्रमिषन्स यथा सुहयः षड्वीशशङ्कून्संखिदेदेवमितरान्प्राणान्समखिदत्तꣳहाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि त्वं नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति॥ १२॥**

फिर प्राणने उत्क्रमण करनेकी इच्छा की। उसने, जिस प्रकार अच्छा घोड़ा अपने पैर बाँधनेकी कीलोंको उखाड़ डालता है उसी प्रकार अन्य प्राणोंको भी उखाड़ दिया। तब उन सबने उसके सामने जाकर कहा 'भगवन्! आप [हमारे स्वामी] रहें, आप ही हम सबमें श्रेष्ठ हैं, आप उत्क्रमण न करें'॥ १२॥

अथानन्तरं ह स मुख्यः प्राण उच्चिक्रमिषन्नुत्क्रमितुमिच्छन्किमकरोत्? इत्युच्यते—यथा लोके सुहयः शोभनोऽश्वः षड्वीशशङ्कून्पादबन्धनकीलान् परीक्षणायारूढेन कशया हतः सन्संखिदेत्समुत्खनेत्समुत्पाटयेत्, एवमितरान्वागादीन्प्राणान्समखिदत्समुदधृतवान्।

ते प्राणाः संचालिताः सन्तः स्वस्थाने स्थातुमनुत्सहमाना अभिसमेत्य मुख्यं प्राणं तमूचुः—हे भगवन्नेधि भव नः स्वामी, तस्मात्त्वं नोऽस्माकं श्रेष्ठोऽसि; मा चास्माद्देहादुत्क्रमीरिति॥ १२॥

अथ—इसके पश्चात् उस मुख्य प्राणने उत्क्रमण करनेकी इच्छा करते हुए क्या किया? सो बतलाया जाता है—लोकमें जिस प्रकार अच्छा घोड़ा अपनी परीक्षाके लिये चढ़े हुए मनुष्यद्वारा चाबुकसे मारे जानेपर पैर बाँधनेकी कीलोंको उखाड़ डालता है उसी प्रकार उसने वाक् आदि अन्य प्राणोंको उखाड़ दिया अर्थात् [शरीरसे] बाहर निकाल लिया।

[इसी प्रकार] विचलित कर दिये जानेपर वे प्राण अपने गोलकोंमें स्थित रहनेमें असमर्थ होनेके कारण मुख्यप्राणके सम्मुख जा उससे बोले—'हे भगवन्! एधि'—'आप हमारे स्वामी हों, क्योंकि हम सबमें आप श्रेष्ठ हैं। तथा इस शरीरसे आप उत्क्रमण न करें'॥ १२॥

*इन्द्रियोंद्वारा प्राणकी स्तुति*

**अथ हैनं वागुवाच यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीत्यथ हैनं चक्षुरुवाच यदहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठासीति॥ १३॥ अथ हैनꣳश्रोत्रमुवाच यदहꣳसम्पदस्मि त्वं तत्सम्पदसीत्यथ हैनं मन उवाच यदहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति॥ १४॥**

फिर उससे वाक् इन्द्रियने कहा—'मैं जो वसिष्ठ हूँ सो तुम्हीं वसिष्ठ हो।' तदनन्तर उससे चक्षुने कहा—'मैं जो प्रतिष्ठा हूँ सो तुम्हीं प्रतिष्ठा हो'॥ १३॥ फिर उससे श्रोत्रने कहा—'मैं जो सम्पद् हूँ सो

तुम्हीं सम्पद् हो।' तत्पश्चात् उससे मन बोला—'मैं जो आयतन हूँ सो तुम्हीं आयतन हो'॥ १४॥

**अथ हैनं वागादयः प्राणस्य श्रेष्ठत्वं कार्येणापादयन्त आहुर्बलिमिव हरन्तो राज्ञे विशः। कथम्? वाक् तावदुवाच—यदहं वसिष्ठोऽस्मि, यदिति क्रियाविशेषणम्, यद्वसिष्ठत्वगुणास्मीत्यर्थः; त्वं तद्वसिष्ठस्तेन वसिष्ठत्वगुणेन त्वं तद्वसिष्ठोऽसि तद्गुणस्त्वमित्यर्थः। अथवा तच्छब्दोऽपि क्रियाविशेषणमेव। त्वत्कृतस्त्वदीयोऽसौ वसिष्ठत्वगुणोऽज्ञानान्ममेति मयाभिमत इत्येतत्। तथोत्तरेषु योज्यं चक्षुःश्रोत्रमनःसु॥ १३-१४॥**

तदनन्तर वैश्यलोग जिस प्रकार राजाको भेंट समर्पण करते हैं उसी प्रकार वागादि इन्द्रियोंने अपने कार्यसे प्राणकी श्रेष्ठता सम्पादन करते हुए कहा। किस प्रकार कहा?—पहले वाणी बोली—मैं जो वसिष्ठ हूँ, यहाँ मूलमें 'यत्' शब्द क्रियाविशेषण है, अर्थात् 'मैं जो वसिष्ठत्व गुणवाली हूँ सो तुम वसिष्ठ हो—उस वसिष्ठत्व गुणसे तद्वसिष्ठ हो अर्थात् तुम्हीं उस गुणवाले हो।' अथवा 'तत्' शब्द भी क्रियाविशेषण ही है। तब इसका यह तात्पर्य होगा कि 'तुम्हारा किया हुआ अर्थात् तुम्हारा जो यह वसिष्ठत्व गुण है वह अज्ञानसे 'मेरा है' ऐसा मैंने समझ लिया है।' इसी प्रकार आगेके चक्षु, श्रोत्र और मनके विषयमें योजना कर लेनी चाहिये॥ १३-१४॥

**श्रुतेरिदं वचो युक्तमिदं वागादिभिर्मुख्यं प्राणं प्रत्यभिहितं यस्मात्—**

वाक् आदि इन्द्रियोंद्वारा मुख्य प्राणके प्रति कहा हुआ जो यह श्रुतिका वाक्य है सो ठीक ही है, क्योंकि—

**न वै वाचो न चक्षूंषि न श्रोत्राणि न मनाꣳसीत्याचक्षते प्राणा इत्येवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति॥ १५॥**

[लोकमें समस्त इन्द्रियोंको] न वाक्, न चक्षु, न श्रोत्र और न मन ही कहते हैं; परंतु 'प्राण' ऐसा कहते हैं, क्योंकि ये सब प्राण ही हैं॥ १५॥

**न वै लोके वाचो न चक्षूंषि न श्रोत्राणि न मनांसीति वागादीनि करणान्याचक्षते लौकिका आगमज्ञा वा; किं तर्हि? प्राणा इत्येवाचक्षते कथयन्ति। यस्मात् प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि वागादीनि करणजातानि भवत्यतो मुख्यं प्राणं प्रत्यनुरूपमेव वागादिभिरुक्तमिति प्रकरणार्थमुपसंजिहीर्षति।**

लोकमें इन वाक् आदि [समस्त] इन्द्रियोंको लौकिक अथवा शास्त्रज्ञ पुरुष न तो वाक् कहते हैं और न चक्षु, न श्रोत्र और न मन ही कहते हैं। तो फिर क्या कहते हैं? बस 'प्राण' ऐसा ही कहते हैं। क्योंकि प्राण ही यह समस्त वागादि इन्द्रियसमुदाय हो जाता है, अतः मुख्य प्राणके प्रति वागादि इन्द्रियोंद्वारा ठीक ही कहा गया है—इस प्रकार श्रुति इस प्रकरणके अर्थका उपसंहार करना चाहती है।

**ननु कथमिदं युक्तं चेतनावन्त इव पुरुषा अहंश्रेष्ठतायै विवदन्तोऽन्योन्यं स्पर्धेरन्? इति। न हि चक्षुरादीनां वाचं प्रत्याख्याय प्रत्येकं वदनं सम्भवति; तथापगमो देहात्पुनः प्रवेशो ब्रह्मगमनं प्राणस्तुतिर्वोपपद्यते।**

**शङ्का**—किंतु यह किस प्रकार सम्भव है कि वागादि प्राणोंने चेतनायुक्त पुरुषोंके समान अपनी श्रेष्ठताके लिये विवाद करते हुए एक-दूसरेसे स्पर्धा की? क्योंकि वाक्के सिवा अन्य चक्षु आदि इन्द्रियोंमेंसे किसीका भी बोलना सम्भव नहीं है और न उनका देहसे चला जाना, उसमें पुनः प्रवेश करना, ब्रह्माके पास जाना अथवा प्राणकी स्तुति करना ही सम्भव है।

**तत्राग्न्यादिचेतनावद्देवताधिष्ठितत्वाद्वागादीनां चेतनावत्त्वं तावत्सिद्धमागमतः। तार्किक-**

**समाधान**—उसमें हमारा यह कथन है कि अग्नि आदि चेतन देवताओंसे अधिष्ठित होनेके कारण वागादि इन्द्रियोंकी चेतनता तो शास्त्रसे ही सिद्ध है। यदि

समयविरोध इति चेदेह एकस्मिन्नेकचेतनावत्त्वे, न, ईश्वरस्य निमित्तकारणत्वाभ्युपगमात्। ये तावदीश्वरमभ्युपगच्छन्ति तार्किकास्ते मनआदिकार्यकरणानामाध्यात्मिकानां बाह्यानां च पृथिव्यादीनामीश्वराधिष्ठितानामेव नियमेन प्रवृत्तिमिच्छन्ति रथादिवत्। न चास्माभिरग्न्याद्याश्चेतनावत्योऽपि देवता अध्यात्मं भोक्त्र्योऽभ्युपगम्यन्ते; किं तर्हि? कार्यकरणवतीनां हि तासां प्राणैकदेवताभेदानामध्यात्माधिभूताधिदैवभेदकोटिविकल्पानामध्यक्षतामात्रेण नियन्तेश्वरोऽभ्युपगम्यते, स ह्यकरणः। "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" (श्वे० उ० ३। १९) इत्यादि मन्त्रवर्णात्। "हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानम्" (श्वे० उ० ४। १२)।

कहो कि इस प्रकार एक ही देहमें अनेक चेतनावानोंके रहनेसे तार्किकोंके मतसे विरोध होगा—तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उन्होंने ईश्वरकी निमित्तकारणता स्वीकार की है। तार्किकलोग जो ईश्वरको स्वीकार करते हैं तो वे रथ आदिके समान ईश्वरसे अधिष्ठित हुए ही मन आदि आध्यात्मिक भूत एवं इन्द्रियोंकी तथा पृथिवी आदि बाह्य पदार्थोंकी नियत प्रवृत्ति मानते हैं। तथा हमलोग तो अग्नि आदि चेतन देवताओंको भी अध्यात्म (शरीरान्तर्वर्ती) भोक्ता नहीं मानते। तो क्या मानते हैं?—हम तो अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवभेदसे करोड़ों विकल्पोंवाली एकमात्र प्राणदेवताकी भेदस्वरूप उन देहेन्द्रियवती देवताओंका ईश्वरको अध्यक्षतामात्रसे नियन्ता मानते हैं, क्योंकि वह (ईश्वर) अकरण (इन्द्रियादिरहित) है। जैसा कि "वह बिना हाथ-पाँवके ही वेगवान् और ग्रहण करनेवाला है तथा बिना नेत्रवाला होकर भी देखता है और कर्णहीन होनेपर भी सुनता है" इस मन्त्रवर्णसे

"हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्" (श्वे० उ० ३। ४) इत्यादि च श्वेताश्वतरीयाः पठन्ति।

भोक्ता कर्मफलसम्बन्धी देहे तद्विलक्षणो जीव इति वक्ष्यामः। वागादीनां चेह संवादः कल्पितो विदुषोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्राण-श्रेष्ठता निर्धारणार्थम्; यथा लोके पुरुषा अन्योन्यमात्मनः श्रेष्ठतायै विवदमानाःकञ्चिद्गुणविशेषाभिज्ञं पृच्छन्ति को नः श्रेष्ठो गुणैः? इति तेनोक्ता एकैकश्येनादः कार्यं साधयितुमुद्यच्छत, येनादः कार्यं साध्यते स वः श्रेष्ठः, इत्युक्तास्तथा एवोद्यच्छन्त आत्मनो-ऽन्यस्य वा श्रेष्ठतां निर्धारयन्ति; तथेमं संव्यवहारं वागादिषु कल्पितवती श्रुतिः, कथं नाम विद्वान्वागादीनामेकैकस्याभावेऽपि जीवनं दृष्टं न तु प्राणस्येति प्राणश्रेष्ठतां प्रतिपद्येतेति।

प्रमाणित होता है। इसके सिवा श्वेताश्वतर शाखावालोंका यह भी पाठ है कि—"उत्पन्न होते हुए हिरण्यगर्भको देखो" तथा "पहले हिरण्यगर्भको उत्पन्न किया" इत्यादि।

[इस शरीरमें] उन ईश्वर और देवताओंसे विलक्षण कर्मफलसे सम्बन्ध रखनेवाला जीव भोक्ता है—ऐसा हम (आगे) कहेंगे। वागादिका संवाद तो यहाँ उपासकके प्रति अन्वय एवं व्यतिरेकसे प्राणकी श्रेष्ठताका निर्णय करानेके लिये कल्पित किया गया है। जिस प्रकार लोकमें मनुष्य अपनी श्रेष्ठताके लिये एक-दूसरेसे विवाद करते हुए किसी विशेष गुणज्ञसे पूछते हैं कि 'हममें गुणोंकी दृष्टिसे कौन श्रेष्ठ है?' और उसके यह कहनेपर कि 'इस कार्यको सिद्ध करनेके लिये तुम एक-एक करके उद्योग करो; जिससे यह कार्य सिद्ध हो जाय, वही तुममें श्रेष्ठ है' उसी प्रकार उद्योग करके अपनी या किसी दूसरेकी श्रेष्ठताका निर्णय करते हैं—उसी प्रकार श्रुतिने वागादिमें इस व्यवहारकी कल्पना की है, जिससे कि 'वागादिमेंसे एक-एकके अभावमें भी जीवन देखा गया है किंतु प्राणके अभावमें नहीं देखा गया' ऐसा देखकर उपासक किसी प्रकार प्राणकी श्रेष्ठता समझ जाय।

तथा च श्रुतिः कौषीतकिनाम्; ''जीवति वागपेतो मूकान्हि पश्यामो जीवति चक्षुरपेतोऽन्धान्हि पश्यामो जीवति श्रोत्रापेतो बधिरान्हि पश्यामो जीवति मनोऽपेतो बालान्हि पश्यामो जीवति बाहुच्छिन्नो जीवत्यूरुच्छिन्नः'' (कौ० उ० ३। ३) इत्याद्या॥ १५॥

ऐसी ही कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्की श्रुति भी है—''मनुष्य बिना वाणीके जीवित रहता है, क्योंकि हम गूँगोंको देखते हैं; नेत्रके बिना जीवित रहता है, क्योंकि हम अन्धोंको देखते हैं; श्रोत्रके बिना जीवित रहता है, क्योंकि हम बहरोंको देखते हैं; मनके बिना जीवित रहता है, क्योंकि हम बालकोंको देखते हैं तथा भुजा कट जानेपर जीवित रहता है, ऊरु (जाँघ) कट जानेपर जीवित रहता है'' इत्यादि॥ १५॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
प्रथमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम्॥ १॥

# द्वितीय खण्ड

*प्राणका अन्ननिर्देश*

**स होवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति यत्किञ्चिदिदमा श्वभ्य आ शकुनिभ्य इति होचुस्तद्वा एतदनस्यान्नमनो ह वै नाम प्रत्यक्षं न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवतीति॥ १॥**

उसने कहा—'मेरा अन्न क्या होगा?' तब वागादिने कहा—'कुत्तों और पक्षियोंसे लेकर सब जीवोंका यह जो कुछ अन्न है [सब तुम्हारा अन्न है]', सो यह सब अन (प्राण)-का अन्न है। 'अन' यह प्राणका प्रत्यक्ष नाम है। इस प्रकार जाननेवालेके लिये भी कुछ अनन्न (अभक्ष्य) नहीं होता है॥ १॥

**स होवाच मुख्यः प्राणः किं मेऽन्नं भविष्यतीति। मुख्यं प्राणं प्रष्टारमिव कल्पयित्वा वागादीन्प्रतिवक्तॄनिव कल्पयन्ती श्रुतिराह—यदिदं लोकेऽन्नजातं प्रसिद्धमा श्वभ्यः श्वभिः सहा शकुनिभ्यः सह शकुनिभिः सर्वप्राणिनां यदन्नं तत्तवान्नमिति होचुर्वागादय इति। प्राणस्य सर्वमन्नं प्राणोऽत्ता सर्वस्यान्नस्येत्येवं प्रतिपत्तये कल्पिताख्यायिकारूपाद्व्यावृत्त्य स्वेन श्रुतिरूपेणाह—**

उस मुख्य प्राणने कहा—'मेरा अन्न क्या होगा?' [इस प्रकार] मुख्य प्राणको मानो प्रश्नकर्ता बनाकर वागादिको उत्तरदाता-सा कल्पित करती हुई श्रुति कहती है—'इस लोकमें कुत्तोंके सहित और पक्षियोंके सहित सम्पूर्ण प्राणियोंका यह जो कुछ अन्न प्रसिद्ध है वही तेरा अन्न है' ऐसा वागादिने कहा। इस प्रकार सब कुछ प्राणका अन्न है और प्राण इस अन्नका भोक्ता है—इस बातको समझानेके लिये कल्पित आख्यायिकारूपसे निवृत्त हो ग्रन्थ अपने श्रुतिरूपसे कहता है—

तद्वा एतद्यत्किञ्चिल्लोके प्राणिभिरन्नमद्यतेऽनस्य प्राणस्य तदन्नं प्राणेनैव तदद्यत इत्यर्थः। सर्वप्रकारचेष्टाव्याप्तिगुणप्रदर्शनार्थमन इति प्राणस्य प्रत्यक्ष नाम। प्राद्युपसर्गपूर्वत्वे हि विशेषगतिरेव स्यात्। तथा च सर्वान्नानामत्तुर्नामग्रहणमितीदं प्रत्यक्षं नामान इति सर्वान्नानामत्तुः साक्षादभिधानम्।

न ह वा एवंविदि यथोक्तप्राणविदि प्राणोऽहमस्मि सर्वभूतस्थः सर्वान्नानामत्तेति, तस्मिन्नेवंविदि ह वै किञ्चन किञ्चिदपि प्राणिभिराद्यं सर्वैरनन्नमनाद्यं न भवति सर्वमेवंविद्यन्नं भवतीत्यर्थः; प्राणभूतत्वाद्विदुषः। "प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति"

'यह जो कुछ अन्न इस लोकमें प्राणियोंद्वारा भक्षित होता है वह अन—प्राणका ही अन्न है; अर्थात् वह प्राणसे ही भक्षित होता है।' प्राणका सब प्रकारकी चेष्टामें व्याप्तिरूप गुण प्रदर्शित करनेके लिये उसका 'अन' यह प्रत्यक्ष नाम है, क्योंकि 'प्र' आदि उपसर्ग पूर्वमें रहनेपर उसकी विशेष गति ही सिद्ध होती है।* इस प्रकार सम्पूर्ण अन्नोंको भक्षण करनेवाले प्राणका नाम ग्रहण किया गया है, अतः उसका 'अन' यह प्रत्यक्ष नाम है; अर्थात् यह सर्वान्नभक्षी प्राणका साक्षात् नाम है।

इस प्रकार जाननेवाले—उपर्युक्त प्राणवेत्ताके लिये, अर्थात् जो यह जानता है कि मैं सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित सारे अन्नोंका भोक्ता प्राण हूँ, उसके लिये कुछ भी, समस्त प्राणियोंद्वारा भक्षित होनेवाला कोई भी अन्न अभक्ष्य नहीं होता। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार जाननेवालेके लिये सभी अन्न है, क्योंकि वह विद्वान् प्राणस्वरूप हो जाता है; जैसा कि एक दूसरी श्रुतिमें भी

* 'अन प्राणने' इस धातुपाठके अनुसार 'अन' शब्द गतिशीलका वाचक है। उसके पहले प्र, अप, उत्+आ, वि+आ इन उपसर्गोंके तथा 'सम' शब्दके लगनेसे क्रमशः प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान शब्द सिद्ध होते हैं। इनके योगसे मुख्य प्राणके गतिभेद ही द्योतित होता है।

**(बृ० १। ५। २३) इत्युपक्रम्य "एवंविदो ह वा उदेति सूर्य एवं विद्यस्तमेति" इति श्रुत्यन्तरात्॥ १॥**

"प्राणसे ही यह सूर्य उदित होता और प्राणमें ही अस्त होता है" ऐसा उपक्रम कर "इस प्रकार जाननेवालेसे ही सूर्य उदित होता है और ऐसा जाननेवालेमें ही अस्त हो जाता है" [ऐसा उपसंहार किया गया है]॥ १॥

*प्राणका वस्त्रनिर्देश*

**स होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति होचुस्तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति लम्भुको ह वासो भवत्यनग्नो ह भवति॥ २॥**

उसने कहा—'मेरा वस्त्र क्या होगा?' तब वागादि बोले—'जल'। इसीसे भोजन करनेवाले पुरुष भोजनके पूर्व और पश्चात् इसका जलसे आच्छादन करते हैं। [ऐसा करनेसे] वह वस्त्र प्राप्त करनेवाला और अनग्न होता है॥ २॥

**स होवाच पुनः प्राणः, पूर्ववदेव कल्पना, किं मे वासो भविष्यति? इति; आप इति होचुर्वागादयः। यस्मात्प्राणस्य वास आपः, तस्माद्वा एतदशिष्यन्तो भोक्ष्यमाणा भुक्तवन्तश्च ब्राह्मणा विद्वांस एतत्कुर्वन्ति, किम्? अद्भिर्वासस्थानीयाभिः पुरस्ताद्भोजनात्पूर्वमुपरिष्टाच्च भोजनादूर्ध्वं च परिदधति परिधानं कुर्वन्ति मुख्यस्य प्राणस्य।**

उस प्राणने फिर कहा—यह कल्पना भी पहलेहीके समान है—'मेरा वस्त्र क्या होगा?' इसपर वागादिने कहा—'जल'। क्योंकि जल प्राणका वस्त्र है इसीसे भोजन करनेवाले विद्वान् यह करते हैं; क्या करते हैं? भोजनके पूर्व और पश्चात् वे वस्त्रस्थानीय जलसे मुख्य प्राणका परिधान (आच्छादन) करते हैं। [ऐसा करनेसे] वह लम्भुक—वस्त्रोंका लम्भनशील अर्थात्

लम्भुको लम्भनशीलो वासो ह भवति, वाससो लब्धैव भवतीत्यर्थः। अनग्नो ह भवति, वाससो लम्भुकत्वेनार्थसिद्धैवानग्नतेत्यनग्नो ह भवतीत्युत्तरीयवान् भवतीत्येतत्।

भोक्ष्यमाणस्य भुक्तवतश्च यदाचमनं शुद्ध्यर्थं विज्ञातं तस्मिन् प्राणस्य वास इति दर्शनमात्रमिह विधीयते। अद्भिः परिदधतीति नाचमनान्तरम्। यथा लौकिकैः प्राणिभिरद्यमानमन्नं प्राणस्येति दर्शनमात्रम्, तद्वत्। किं मेऽन्नं किं मे वास इत्यादिप्रश्नप्रतिवचनयोस्तुल्यत्वात्। यद्याचमनमपूर्वं तादर्थ्येन क्रियेत तदा कृम्याद्यन्नमपि प्राणस्येति भक्ष्यत्वेन विहितं स्यात्। तुल्ययोर्विज्ञानार्थयोः प्रश्नप्रतिवचनयोः प्रकरणस्य विज्ञानार्थ-

वस्त्रोंको प्राप्त करनेवाला ही होता है और अनग्न होता है। वस्त्रोंको प्राप्त करनेवाला होनेसे अनग्नता अर्थतः सिद्ध ही है; अतः अनग्न होता है। इसका अभिप्राय यह है कि उत्तरीय वस्त्रसे युक्त होता है।

भोजन आरम्भ करनेवाले और भोजन कर चुकनेवालेका जो आचमन शुद्धिके लिये विदित है उसमें 'यह प्राणका वस्त्र है' ऐसी दृष्टिमात्रका विधान किया गया है। 'जलसे परिधान करता है' ऐसा कहकर किसी अन्य आचमनका विधान नहीं किया गया। जिस प्रकार लौकिक प्राणियोंद्वारा भक्षित होनेवाला अन्न प्राणका है—यहाँ जिस तरह केवल दृष्टिमात्रका विधान किया गया है उसी तरह इसे समझना चाहिये; क्योंकि 'मेरा अन्न क्या है? मेरा वस्त्र क्या है?' इत्यादि प्रश्न और इनके उत्तर दोनों समान हैं। यदि [इस श्रुतिके अनुसार] प्राणके लिये अपूर्व—नवीन आचमनका विधान मान लिया जाय तो कृमि आदि अन्नका भी प्राणके भक्ष्यरूपसे विधान समझा जायगा। इस प्रकार समानरूपसे विज्ञानार्थक प्रश्न और उत्तरोंका यह प्रकरण विज्ञानरूप

त्वादर्धजरतीयो न्यायो न युक्तः कल्पयितुम्।

यत्तु प्रसिद्धमाचमनं प्रायत्यार्थं प्राणस्यानग्नतार्थं च न भवतीत्युच्यते, न तथा वयम्- माचमनमुभयार्थं ब्रूमः; किं तर्हि? प्रायत्यार्थाचमनसाधनभूता आपः प्राणस्य वास इति दर्शनं चोद्यत इति ब्रूमः। तत्राचमनस्योभयार्थत्वप्रसङ्गदोषचोदनानुपपन्ना। वासोऽर्थ एवाचमने तद्दर्शनं स्यादिति चेत्? न; वासोज्ञानार्थवाक्ये वासोऽर्थापूर्वाचमनविधाने तत्रानग्नतार्थत्वदृष्टिविधाने च वाक्य-

प्रयोजनके लिये ही होनेके कारण यहाँ अर्धजरतीय न्यायकी* कल्पना करना उचित नहीं है।

तथा ऐसा जो कहा जाता है कि 'शुद्धिके लिये किया जानेवाला प्रसिद्ध आचमन प्राणकी नग्नताके निवारणके लिये नहीं हो सकता' उसके विषयमें हमें यह कहना है कि इस प्रकार हम आचमनको दोनों प्रयोजनोंके लिये नहीं बतलाते। तो फिर क्या कहते हैं?—हमारा कथन तो यह है कि शुद्धिके लिये किये जानेवाले आचमनका साधनभूत जल प्राणका वस्त्र है—ऐसी दृष्टिका विधान किया गया है। उसमें आचमनके दो प्रयोजनोंकी सिद्धिके लिये होनेरूप दोषकी शङ्का करना उचित नहीं है। यदि कहो कि 'ऐसी दृष्टि करना तो तब उचित होता जब कि आचमन प्राणके वस्त्रके लिये ही किया जाता'—तो यह ठीक नहीं; क्योंकि वस्त्रदृष्टिके लिये प्रवृत्त हुए वाक्यमें वस्त्रके लिये नवीन आचमनका विधान और उसमें प्राणकी नग्नताके निवारणरूप प्रयोजनकी दृष्टिका

* यदि कोई मनुष्य कहे कि आधी गाय तो जवान है और आधी बूढ़ी है तो इसे अर्धजरतीय न्याय कहते हैं। अतः ऐसी कल्पना नहीं करनी चाहिये कि अन्नोंमें तो केवल दृष्टिमात्रका विधान है; किंतु आचमन नवीन विहित है।

भेदः। आचमनस्य तदर्थत्व-मन्यार्थत्वं चेति प्रमाणाभावात्॥ २॥

विधान माननेसे वाक्यभेदरूप दोष होगा, क्योंकि आचमनके वासोऽर्थत्व और किसी अन्यार्थत्वमें कोई प्रमाण नहीं है॥ २॥

*प्राणविद्याकी स्तुति*

तदेतत्प्राणदर्शनं स्तूयतेः कथम्?

उस इस प्राणदर्शनकी स्तुति की जाती है; किस प्रकार?

**तद्धैतत्सत्यकामो जाबालो गोश्रुतये वैयाघ्रपद्यायोक्त्वोवाच यद्यप्येतच्छुष्काय स्थाणवे ब्रूयाज्जायेरन्नेवास्मिञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति॥ ३॥**

उस इस (प्राणदर्शन)-को सत्यकाम जाबालने वैयाघ्रपद्य गोश्रुतिके प्रति निरूपित करके कहा—'यदि इसे शुष्क स्थाणुके प्रति कहे तो उसमें शाखा उत्पन्न हो जायगी और पत्ते फूट आवेंगे॥ ३॥

तद्धैतत्प्राणदर्शनं सत्यकामो जाबालो गोश्रुतये नाम्ना वैयाघ्रपद्याय व्याघ्रपदोऽपत्यं वैयाघ्रपद्यस्तस्मै गोश्रुत्याख्यायोक्त्वोवाचान्यदपि वक्ष्यमाणं वचः। किं तदुवाच? इत्याह—यद्यपि शुष्काय स्थाणव एतद्दर्शनं ब्रूयात्प्राणविज्जायेरन्नुत्पद्येरन्नेवास्मिन्स्थाणौ शाखाः प्ररोहेयुश्च पलाशानि पत्राणि। किमु जीवते पुरुषाय ब्रूयादिति॥ ३॥

उस इस प्राणदर्शनको सत्यकाम जाबालने गोश्रुतिनामक वैयाघ्रपद्यसे—व्याघ्रपदके पुत्रको वैयाघ्रपद्य कहते हैं, उस गोश्रुति नामवालेसे कहकर और भी आगे कहा जानेवाला वचन कहा। उसने क्या कहा? सो बतलाते हैं—यदि प्राणवेत्ता पुरुष इस दर्शनको शुष्क स्थाणुके प्रति कहे तो उस स्थाणुमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायँ और पत्ते निकल आवें, यदि जीवित पुरुषसे कहे तब तो कहना ही क्या है?॥ ३॥

*मन्थकर्म*

**यथोक्तप्राणदर्शनविद इदं मन्थाख्यं कर्मारभ्यते—**

उपर्युक्त प्राणदर्शनके ज्ञाताके लिये इस मन्थनामक कर्मका आरम्भ किया जाता है—

**अथ यदि महज्जिगमिषेदमावास्यायां दीक्षित्वा पौर्णमास्याꣳरात्रौ सर्वौषधस्य मन्थं दधिमधुनोरुपमथ्य ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्॥ ४॥**

अब यदि वह महत्त्वको प्राप्त होना चाहे तो उसे अमावास्याको दीक्षित होकर पूर्णिमाकी रात्रिको सर्वौषधके दधि और मधुसम्बन्धी मन्थका मन्थन कर 'ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा' ऐसा कहते हुए अग्निमें घृतका हवन कर मन्थपर उसका अवशेष डालना चाहिये॥ ४॥

**अथानन्तरं यदि महन्महत्त्वं जिगमिषेद्गन्तुमिच्छेन्महत्त्वं प्राप्तं यदि कामयेतेत्यथः; तस्येदं कर्म विधीयते। महत्त्वे हि सति श्रीरुपनमते। श्रीमतो ह्यर्थप्राप्तं धनं ततः कर्मानुष्ठानं ततश्च देवयानं पितृयाणं वा पन्थानं प्रतिपत्स्यत इत्येतत्प्रयोजनमुररीकृत्य महत्त्वप्रेप्सोरिदं कर्म न विषयोपभोगकामस्य। तस्यायं कालादिविधिरुच्यते—**

अब इसके पश्चात् यदि वह महत् यानी महत्त्वको प्राप्त होना चाहे अर्थात् महत्त्वप्राप्तिकी कामना रखता हो तो उसके लिये इस कर्मका विधान किया जाता है, क्योंकि महत्त्व प्राप्त होनेपर ही लक्ष्मी समीप आती है, क्योंकि श्रीमान्‌को धन तो स्वतः प्राप्त होता ही है, उससे कर्मानुष्ठान होता है और उससे देवयान अथवा पितृयाण मार्ग प्राप्त होना सम्भव है—इस उद्देश्यको लक्ष्यमें रखकर ही महत्त्वप्राप्तिकी इच्छावालेके लिये—विषयोपभोगकी कामनावालेके लिये नहीं—यह कर्म आरम्भ किया जाता है। उसकी यह कालादि विधि कही जाती है—

अमावास्यायां दीक्षित्वा दीक्षित इव भूमिशयनादि नियमं कृत्वा तपोरूपं सत्यवचनं ब्रह्मचर्यमित्यादिधर्मवान्भूत्वेत्यर्थः। न पुनर्दैक्षमेव कर्मजातं सर्वमुपादत्ते, अतद्विकारत्वान्मन्थाख्यस्य कर्मणः। "उपसद्व्रती" (बृ० उ० ६। ३। १) इति श्रुत्यन्तरात्पयोमात्रभक्षणं च शुद्धिकारणं तप उपादत्ते। पौर्णमास्यां रात्रौ कर्मारभते। सर्वौषधस्य ग्राम्यारण्यानामोषधीनां यावच्छक्त्यल्पमल्पमुपादाय तद्वितुषीकृत्याममेव पिष्टं दधिमधुनोरौदुम्बरे कंसाकारे चमसाकारे वा पात्रे श्रुत्यन्तरात्प्रक्षिप्योपमथ्याग्रतः स्थापयित्वा ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नावावसथ्य आज्यस्यावापस्थाने हुत्वा स्रुवसंलग्नं मन्थे संपातमवनयेत्संस्रवमधः पातयेत् ॥ ४ ॥

अमावास्याके दिन दीक्षित हो—दीक्षित पुरुषके समान भूमिशयन आदि नियम कर अर्थात् तपःस्वरूप सत्यवचन, ब्रह्मचर्य इत्यादि धर्मवाला होकर पूर्णिमाकी रात्रिको इस कर्मका आरम्भ करता है। [इस कर्ममें दीक्षित होनेवाला पुरुष] दीक्षासम्बन्धी [मौञ्जीबन्धनादि] समस्त कर्मोंका ग्रहण नहीं करता, क्योंकि यह मन्थाख्य कर्म किसी अन्य कर्मका विकार नहीं है। "उपसद्व्रती भूत्वा" ऐसी अन्य श्रुति होनेके कारण वह शुद्धिका कारणभूत पयोभक्षणमात्र तप स्वीकार करता है। सर्वौषध अर्थात् यथाशक्ति ग्राम्य और वन्य समस्त ओषधियोंका थोड़ा-थोड़ा भाग लेकर उन्हें तुषरहित कर उसकी कच्ची पिट्ठीको एक अन्य श्रुतिके अनुसार दही और मधुके सहित कंसाकार अथवा चमसाकार गूलरके पात्रमें डालकर उसका मन्थन कर उसे अपने आगे रख 'ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा' ऐसा कहते हुए आवसथ्याग्निमें आवापस्थानमें घृतकी आहुति दे और स्रुवमें लगे हुए अवशिष्ट हविको मन्थमें डाल दे अर्थात् उस घृतकी धाराको मन्थमें गिरा दे॥ ४॥

**वसिष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्संपदे स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेदायतनाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्॥ ५॥**

[इसी प्रकार] 'वसिष्ठाय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें घृताहुति देकर मन्थमें घृतका स्रुव डाले; 'प्रतिष्ठायै स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें घृताहुति देकर मन्थमें घृतका स्रुव डाले; 'संपदे स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें घृताहुति देकर मन्थमें घृतका स्रुव डाले तथा 'आयतनाय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें घृताहुति देकर मन्थमें घृतका स्रुव डाले॥ ५॥

**समानमन्यत्, वसिष्ठाय प्रतिष्ठायै संपद आयतनाय स्वाहेति प्रत्येकं तथैव संपातमवनयेद्धुत्वा॥ ५॥**

शेष अर्थ पूर्ववत् है; 'वसिष्ठाय, प्रतिष्ठायै, संपदे तथा आयतनाय स्वाहा' ऐसा कहते हुए प्रत्येक मन्त्रके अनन्तर आहुति देकर उसी प्रकार घृतका स्रुव [मन्थमें] डाले॥ ५॥

**अथ प्रतिसृप्याञ्जलौ मन्थमाधाय जपत्यमो नामास्यमा हि ते सर्वमिदꣳस हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाधिपतिः स मा ज्यैष्ठ्यꣳश्रैष्ठ्यꣳराज्यमाधिपत्यं गमयत्वहमेवेदꣳ सर्वमसानीति॥ ६॥**

तदनन्तर अग्निसे कुछ दूर हटकर मन्थको अञ्जलिमें ले वह 'अमो नामासि' इत्यादि मन्त्रका जप करे। [अमो नामासि आदि मन्त्रका अर्थ—] हे मन्थ! तू 'अम' नामवाला है, क्योंकि यह सारा जगत् [अपने प्राणभूत] तेरे साथ अवस्थित है। वह तू ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, राजा

(दीप्तिमान्) और सबका अधिपति है। वह तू मुझे ज्येष्ठत्व, श्रेष्ठत्व, राज्य और आधिपत्यको प्राप्त करा। मैं ही यह सर्वरूप हो जाऊँ॥ ६॥

**अथ प्रतिसृप्याग्नेरीषदपसृत्याञ्जलौ मन्थमाधाय जपतीमं मन्त्रम् अमो नामास्यमा हि ते। अम इति प्राणस्य नाम, अन्नेन हि प्राणः प्राणिति देह इत्यतो मन्थद्रव्यं प्राणस्यान्नत्वात्प्राणत्वेन स्तूयतेऽमो नामासीति। कुतः? यतोऽमा सह हि यस्मात्ते तव प्राणभूतस्य सर्वं समस्तं जगदिदमतः स हि प्राणभूतो मन्थो ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च। अत एव च राजा दीप्तिमानधिपतिश्चाधिष्ठाय पालयिता सर्वस्य। स मा मामपि मन्थः प्राणो ज्यैष्ठ्यादिगुणपूगमात्मनो गमयत्वहमेवेदं सर्वं जगदसानि भवानि प्राणवत्। इतिशब्दो मन्त्रपरिसमाप्त्यर्थः॥ ६॥**

फिर प्रतिसर्पण कर—अग्निसे कुछ हटकर मन्थको अञ्जलिमें रख इस मन्त्रको जपता है—'अम नामासि अमा हि ते' इत्यादि। 'अम' यह प्राणका नाम है, अन्नके कारण ही प्राण शरीरमें प्राणनक्रिया करता है; इसीसे मन्थद्रव्य प्राणका अन्न होनेके कारण 'अमो नामासि' इत्यादि मन्त्रद्वारा प्राणरूपसे स्तुत होता है। तू क्यों 'अम' नामवाला है?—क्योंकि प्राणभूत तेरे साथ ही यह सारा जगत् है; अतः वह [तू] प्राणभूत मन्थ ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। इसीसे तू राजा—दीप्तिमान् और अधिपति—सबका अधिष्ठान होकर पालन करनेवाला है। वह मन्थरूप प्राण मुझे भी अपने ज्येष्ठत्व आदि गुणसमूहको प्राप्त करावे। प्राणके समान मैं भी यह सम्पूर्ण जगत्स्वरूप हो जाऊँ। 'इति' शब्द मन्त्रकी समाप्तिके लिये है॥ ६॥

**अथ खल्वेतयर्चा पच्छ आचामति। तत्सवितुर्वृणीमह इत्याचामति। वयं देवस्य भोजनमित्याचामति। श्रेष्ठꣳसर्वधातममित्याचामति। तुरं भगस्य धीमहीति सर्वं पिबति। निर्णिज्य कꣳसं चमसं वा**

**पश्चादग्नेः संविशति चर्मणि वा स्थण्डिले वा वाचंयमोऽप्रसाहः। स यदि स्त्रियं पश्येत्समृद्धं कर्मेति विद्यात्॥ ७॥**

फिर वह इस ऋचासे* पादशः [उस मन्थका] भक्षण करता है। 'तत्सवितुर्वृणीमहे' ऐसा कहकर भक्षण करता है; 'वयं देवस्य भोजनम्' ऐसा कहकर भक्षण करता है; 'श्रेष्ठꣳसर्वधातमम्' ऐसा कहकर भोजन करता है; तथा 'तुरं भगस्य धीमहि' ऐसा कहकर कंस (कटोरे) या चमस (चम्मच)-को धोकर सारा मन्थलेप पी जाता है। तत्पश्चात् वह अग्निके पीछे चर्म अथवा स्थण्डिल (पवित्र यज्ञभूमि)-पर वाणीका संयम कर (अनिष्ट स्वप्नदर्शनसे) अभिभूत न होता हुआ शयन करता है। उस समय यदि वह [स्वप्नमें] स्त्रीको देखे तो वैसा समझे कि कर्म सफल हो गया॥ ७॥

**अथानन्तरं खल्वेतया वक्ष्यमाणयर्चा पच्छः पादश आचामति भक्षयति मन्त्रस्यैकैकेन पादेनैकैकं ग्रासं भक्षयति। तद्भोजनं सवितुः सर्वस्य प्रसवितुः प्राणमादित्यं चैकीकृत्योच्यते, आदित्यस्य वृणीमहे प्रार्थयेमहि**

इसके अनन्तर वह इस कही जानेवाली ऋचासे पादशः आचमन—भक्षण करता है; अर्थात् इस मन्त्रके एक-एक पादसे एक-एक ग्रास भक्षण करता है। हम सविता—सबका प्रसव करनेवाले आदित्यके उस मन्थरूप भोजनकी प्रार्थना करते हैं—यहाँ प्राण और आदित्यको एक मानकर ऐसा कहा गया है—जिस अन्न अर्थात् सविता देवतासे उपभोग किये हुए भोजनद्वारा हम सूर्यस्वरूपको प्राप्त

* इस ऋचाका अर्थ इस प्रकार है—'हम प्रकाशमान सविताके उस सर्वविषयक श्रेष्ठतम भोजनकी प्रार्थना करते हैं और शीघ्र ही सविता देवताके स्वरूपका ध्यान करते हैं।'

मन्थरूपम्। येनान्नेन सावित्रेण भोजनेनोपभुक्तेन वयं सवितृस्वरूपापन्ना भवेमेत्यभिप्रायः। देवस्य सवितुरिति पूर्वेण सम्बन्धः श्रेष्ठं प्रशस्यतमं सर्वान्नेभ्यः सर्वधातमं सर्वश्य जगतो धारयितृतममतिशयेन विधातृतममिति वा। सर्वथा भोजनविशेषणम्। तुरं त्वरं तूर्णं शीघ्रमित्येतत्। भगस्य देवस्य सवितुः स्वरूपमिति शेषः। धीमहि चिन्तयेमहि विशिष्टभोजनेन संस्कृताः शुद्धात्मानः सन्त इत्यभिप्रायः। अथवा भगस्य श्रियः कारणं महत्त्वं प्राप्तुं कर्म कृतवन्तो वयं तद्धीमहि चिन्तयेमहीति सर्वं च मन्थलेपं पिबति निर्णिज्य प्रक्षाल्य कंसं कंसाकारं चमसं चमसाकारं वौदुम्बरं पात्रम्।

पीत्वाचम्य पश्चादग्नेः प्राक्शिराः संविशति चर्मणि वाजिने स्थण्डिले केवलायां वा भूमौ, वाचंयमो वाग्यतः सन्नित्यर्थः, अप्रसाहो न प्रसह्यते नाभिभूयते स्त्र्याद्यनिष्टस्वप्नदर्शनेन यथा

होंगे—ऐसा इसका अभिप्राय है। 'देवस्य सवितुः' इस प्रकार 'देवस्य' पदका पहले [सवितुः पद]-से सम्बन्ध है। श्रेष्ठ—समस्त अन्नोंकी अपेक्षा प्रशस्यतम, 'सर्वधातमम्'—समस्त जगत्के उत्कृष्ट धारयिता अथवा सम्पूर्ण जगत्के अतिशय विधाता (उत्पत्तिकर्ता) [—इस प्रकार कुछ भी अर्थ किया जाय] यह सर्वथा भोजनका विशेषण है। हम तुर—त्वर—तूर्ण अर्थात् शीघ्र ही भग—सविता देवताके स्वरूपका—'स्वरूप' शब्द यहाँ शेष है—[अर्थात् यह ऊपरसे लाना पड़ता है] ध्यान—चिन्तन करते हैं; तात्पर्य यह है कि उस विशिष्ट भोजनसे संस्कारयुक्त और शुद्धचित्त होकर हम उसके स्वरूपका ध्यान करते हैं। अथवा भग यानी श्रीके कारणभूत महत्त्वको प्राप्त करनेके लिये कर्म करनेवाले हम उसका ध्यान—चिन्तन करते हैं। ऐसा कहकर कंस—कंसाकार अथवा चमस—चमसाकार गूलरके पात्रको धोकर सारे मन्थलेपको पी जाता है।

मन्थलेपको पीकर आचमन करनेके अनन्तर अग्निके पीछे चर्म—[मृगादिकी] खालपर अथवा स्थण्डिल—केवल भूमिपर ही पूर्वकी ओर सिर करके वाचंयम अर्थात् संयतवाक् होकर तथा अप्रसाह यानी इस प्रकार संयतचित्त होकर कि जिससे स्त्री आदि अनिष्ट स्वप्नके

तथा संयतचित्तः सन्नित्यर्थः, स एवंभूतो यदि स्त्रियं पश्येत्स्वप्नेषु तदा विद्यात्समृद्धं ममेदं कर्मेति॥७॥

देखनेसे विकृत न हो जाय सो जाता है। ऐसी अवस्थामें यदि वह स्वप्नमें स्त्रीको देखे तो यह समझे कि मेरा यह कर्म समृद्ध हो गया॥७॥

**तदेष श्लोको यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियꣳस्वप्नेषु पश्यति समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने॥८॥**

इस विषयमें यह श्लोक है—जिस समय काम्यकर्मोंमें स्वप्नमें स्त्रीको देखे तो उस स्वप्नदर्शनके होनेपर उस कर्ममें समृद्धि जाने॥८॥

तदेतस्मिन्नर्थ एष श्लोको मन्त्रोऽपि भवति। यदा कर्मसु काम्येषु कामार्थेषु स्त्रियं स्वप्नेषु स्वप्नदर्शनेषु स्वप्नकालेषु वा पश्यति समृद्धिं तत्र जानीयात्। कर्मणां फलनिष्पत्तिर्भविष्यतीति जानीयादित्यर्थः। तस्मिन् स्त्र्यादिप्रशस्तस्वप्नदर्शने सतीत्यभिप्रायः। द्विरुक्तिः कर्मसमाप्त्यर्था॥८॥

उस इसी अर्थमें यह श्लोक—मन्त्र भी है। जब कि काम्य—कामनाओंके लिये किये हुए कर्मोंमें स्वप्नमें—स्वप्नदर्शनमें अथवा स्वप्नकालमें स्त्रीको देखे तो उसमें समृद्धि समझे; अर्थात् उन कर्मोंका फल प्राप्त होगा—ऐसा जाने। तात्पर्य यह है कि उस स्त्री आदि प्रशस्त स्वप्नदर्शनके होनेपर [कर्मकी सफलता समझे]। 'तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने' यह द्विरुक्ति कर्मकी समाप्तिके लिये है॥८॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये द्वितीयखण्डभाष्यं सम्पूर्णम्॥२॥

# तृतीय खण्ड

*पाञ्चालोंकी सभामें श्वेतकेतु*

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ताः संसारगतयो वक्तव्या वैराग्यहेतोर्मुमुक्षूणामित्यत आख्यायिकारभ्यते—

मुमुक्षु पुरुषोंके वैराग्यके लिये ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त संसारकी गतियोंका वर्णन करना चाहिये—इसीलिये यह आख्यायिका आरम्भ की जाती है—

**श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालानाꣳसमितिमेयाय तꣳह प्रवाहणो जैवलिरुवाच कुमारानु त्वाशिषत्पितेत्यनु हि भगव इति॥ १॥**

आरुणिका पुत्र श्वेतकेतु पञ्चालदेशीय लोगोंकी सभामें आया। उससे जीवलके पुत्र प्रवाहणने कहा—'हे कुमार! क्या पिताने तुझे शिक्षा दी है!' इसपर उसने कहा—'हाँ, भगवन्!'॥ १॥

श्वेतकेतुर्नामतः, ह इत्यैतिह्यार्थः, अरुणस्यापत्यमारुणिस्तस्यापत्यमारुणेयः पञ्चालानां जनपदानां समितिं सभामेयायाजगाम। तमागतवन्तं ह प्रवाहणो नामतो जीवलस्यापत्यं जैवलिरुवाचोक्तवान्। हे कुमारानु

श्वेतकेतु नामवाला—'ह' यह निपात ऐतिह्यके लिये है—अरुणके पुत्रको आरुणि कहते हैं, उसका पुत्र आरुणेय पञ्चाल देशके लोगोंकी सभामें आया। उस आये हुएसे प्रवाहण नामवाले जीवलके पुत्र जैवलिने कहा—'हे कुमार! क्या पिताने तुझे अनुशासित (शिक्षित)

त्वा त्वामशिषदन्वशिषत्पिता? किमनुशिष्टस्त्वं पित्रेत्यर्थः। इत्युक्तः स आह—अनु हि अनुशिष्टोऽस्मि भगव इति सूचयन्नाह॥ १॥

किया है?' अर्थात् 'क्या पिताने तुझे शिक्षा दी है?' ऐसा कहे जानेपर उसने कहा—"हाँ, भगवन्! मैं अनुशासित किया गया हूँ"—इस प्रकार सूचित करते हुए उसने उत्तर दिया॥ १॥

*प्रवाहणके प्रश्न*

तं होवाच—यद्यनुशिष्टोऽसि,

उसने उससे कहा—यदि तुझे शिक्षा दी गयी है तो—

**वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्तीति? न भगव इति। वेत्थ यथा पुनरावर्तन्त ३ इति? न भगव इति। वेत्थ पथोर्देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना ३ इति? न भगव इति॥ २॥**

'क्या तुझे मालूम है कि इस लोकसे [जानेपर] प्रजा कहाँ जाती है?' [श्वेतकेतु—] 'भगवन्! नहीं।' [प्रवाहण—] 'क्या तू जानता है कि वह फिर इस लोकमें कैसे आती है?' [श्वेतकेतु—] 'नहीं, भगवन्!' [प्रवाहण—] 'देवयान और पितृयाण—इन दोनों मार्गोंका एक-दूसरेसे विलग होनेका स्थान तुझे मालूम है?' [श्वेतकेतु—] 'नहीं भगवन्!'॥ २॥

वेत्थ यदितोऽस्माल्लोकादधि ऊर्ध्वं यत्प्रजाः प्रयन्ति यद्गच्छन्ति, तत्किं जानीषे? इत्यर्थः। न भगव इत्याहेतरः, न जानेऽहं तद्यत्पृच्छसि। एवं तर्हि, वेत्थ जानीषे यथा येन प्रकारेण पुनरावर्तन्त

'क्या तू जानता है कि यहाँसे—इस लोकसे परे प्रजा कहाँ जाती है? तात्पर्य यह है कि क्या तुझे इसका पता है?' इसपर दूसरे (श्वेतकेतु)-ने कहा—'भगवन्! नहीं, आप जो कुछ पूछते हैं वह मैं नहीं जानता।' 'अच्छा तो; जिस तरह वह इस लोकमें आती है वह क्या तुझे मालूम है?' इसपर

इति न भगव इति प्रत्याह। वेत्थ पथोर्मार्गयोः सहप्रयाणयोर्देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना व्यावर्तनमितरेतरवियोगस्थानं सह गच्छताम्? इत्यर्थः। न भगव इति॥ २॥

उसने उत्तर दिया—'भगवन्! नहीं।' 'क्या तुझे साथ-साथ जानेवाले देवयान और पितृयाण इन दोनों मार्गोंकी व्यावर्तना—व्यावर्तन अर्थात् इनपर साथ-साथ जानेवाले पुरुषोंके एक-दूसरेसे अलग होनेके स्थानका पता है?' 'भगवन्! नहीं'॥ २॥

**वेत्थ यथासौ लोको न संपूर्यत ३ इति न भगव इति। वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति? नैव भगव इति॥ ३॥**

[प्रवाहण—] 'तुझे मालूम है, यह पितृलोक भरता क्यों नहीं?' [श्वेतकेतु—] 'भगवन्! नहीं।' [प्रवाहण—] 'क्या तू जानता है कि पाँचवीं आहुतिके हवन कर दिये जानेपर आप (सोमघृतादि रस) 'पुरुष' संज्ञाको कैसे प्राप्त होते हैं?' [श्वेतकेतु—] 'नहीं, भगवन्! नहीं'॥३॥

वेत्थ यथासौ लोकः पितृसम्बन्धी—यं प्राप्य पुनरावर्तन्ते, बहुभिः प्रयद्भिरपि येन कारणेन न सम्पूर्यत इति? न भगवत इति प्रत्याह। वेत्थ यथा येन क्रमेण पञ्चभ्यां पञ्चसंख्याकायामाहुतौ हुतायामाहुतिनिर्वृत्ता आहुतिसाधनाश्चापः पुरुषवचसः पुरुष इत्येवं वचोऽभिधानं यासां हूयमानानां क्रमेण षष्ठाहुतिभूतानां ताः पुरुषवचसः पुरुषशब्दवाच्या

'क्या तू जानता है कि यह पितृगणसम्बन्धी लोक, जिसे प्राप्त होकर फिर लौट आते हैं, बहुतोंके जानेपर भी किस कारणसे नहीं भरता?' 'भगवन्! नहीं' ऐसा उसने उत्तर दिया। 'क्या तुझे मालूम है कि किस प्रकार-किस क्रमसे पाँचवीं—पाँच संख्यावाली आहुतिके हुत होनेपर आहुतिमें रहनेवाले आहुतिके साधनभूत आप पुरुषवाची हो जाते हैं? तात्पर्य यह है कि हवन किये जानेवाले जिन छठी आहुतिभूत द्रव्योंका 'पुरुष' यही वचन यानी नाम है वे पुरुषवाची

भवन्ति पुरुषाख्यां लभन्ते? इत्यर्थः। इत्युक्तो नैव भगव इत्याह, नैवाहमत्र किञ्चन जानामीत्यर्थः॥ ३॥

कैसे हो जाते हैं? अर्थात् पुरुषसंज्ञा कैसे प्राप्त करते हैं?' ऐसा कहे जानेपर उसने यही कहा—'भगवन्! नहीं; अर्थात् मैं इस विषयमें कुछ भी नहीं जानता'॥ ३॥

*प्रवाहणसे पराभूत श्वेतकेतुका अपने पिताके पास आना*

**अथानु किमनुशिष्टोऽवोचथा यो हीमानि न विद्यात्कथꣳसोऽनुशिष्टो ब्रुवीतेति। स हायस्तः पितुरर्धमेयाय तꣳहोवाचाननुशिष्य वाव किल मा भगवानब्रवीदनु त्वाशिषमिति॥ ४॥**

'तो फिर तू अपनेको 'मुझे शिक्षा दी गयी है' ऐसा क्यों बोलता था? जो इन बातोंको नहीं जानता वह अपनेको शिक्षित कैसे कह सकता है?' तब वह त्रस्त होकर अपने पिताके स्थानपर आया और उससे बोला—'श्रीमान्ने मुझे शिक्षा दिये बिना ही कह दिया था कि मैंने तुझे शिक्षा दे दी है'॥ ४॥

**अथैवमज्ञः सन्किमनु कस्मात्त्वमनुशिष्टोऽस्मीत्यवोचथा उक्तवानसि? यो हीमानि मया पृष्टान्यर्थजातानि न विद्यान्न विजानीयात्कथं स विद्वत्स्वनुशिष्टोऽस्मीति ब्रुवीत? इत्येवं स श्वेतकेतुं राज्ञायस्त आयासितः सन्पितुरर्धं स्थानमेयायागतवान्, तं च पितरमुवाच—अननुशिष्यानुशासनमकृत्वैव मा मां किल भगवान्समावर्तनकालेऽब्रवी-**

'तो फिर इस प्रकार अज्ञ होनेपर भी तूने 'मुझे शिक्षा दी गयी है' ऐसा कैसे कहा? जो पुरुष इन मेरी पूछी हुई बातोंको नहीं जानता वह विद्वानोंमें 'मुझे शिक्षा दी गयी है' ऐसा कैसे कह सकता है?' इस प्रकार राजासे आयस्त—पीड़ित हो वह श्वेतकेतु अपने पिताके अर्ध—स्थानपर आया और उस अपने पितासे बोला—'श्रीमान्ने अनुशासन किये बिना ही समावर्तन संस्कारके समय मुझसे

दुक्तवाननु त्वाशिषमन्वशिषं त्वामिति॥४॥

कह दिया था कि 'मैंने तुझे शिक्षा दे दी है'॥४॥

यतः—

क्योंकि—

**पञ्च मा राजन्यबन्धुः प्रश्नानप्राक्षीत्तेषां नैकञ्चनाशकं विवक्तुमिति स होवाच यथा मा त्वं तदैतानवदो यथाहमेषां नैकञ्चन वेद यद्यहमिमानवेदिष्यं कथं ते नावक्ष्यमिति॥५॥**

'उस क्षत्रियबन्धुने मुझसे पाँच प्रश्न पूछे थे; किंतु मैं उनमेंसे एकका भी विवेचन नहीं कर सका।' उसने कहा—'तुमने उस समय (आते ही) जैसे ये प्रश्न मुझे सुनाये हैं उनमेंसे मैं एकको भी नहीं जानता। यदि मैं इन्हें जानता होता तो तुम्हें क्यों न बतलाता?'॥५॥

पञ्च पञ्चसंख्याकान्प्रश्नान् राजन्यबन्धू राजन्या बन्धवोऽस्येति राजन्यबन्धुः स्वयं दुर्वृत्त इत्यर्थः। अप्राक्षीत्पृष्टवान्; तेषां प्रश्नानां नैकञ्चन एकमपि नाशकं न शक्तवानहं विवक्तुं विशेषेणार्थतो निर्णेतुमित्यर्थः।

स होवाच पिता—यथा मा मां वत्स त्वं तदागतमात्र एवैतान् प्रश्नानवद उक्तवानसि—तेषां नैकञ्चनाशकं विवक्तुमिति, तथा मां जानीहि, त्वदीयाज्ञानेन लिङ्गेन मम तद्विषयमज्ञानं जानीहीत्यर्थः। कथम्?

'राजन्यबन्धुने—राजन्य (क्षत्रिय लोग) जिसके बन्धु हों उसे राजन्यबन्धु कहते हैं अर्थात् जो स्वयं दुराचारी है ऐसे उस राजन्यबन्धुने मुझसे पाँच—गिनतीके पाँच प्रश्न पूछे थे; किंतु मैं उन प्रश्नोंमेंसे एकका भी विवेचन नहीं कर सका; अर्थात् उनका विशेषरूपसे अर्थतः निर्णय नहीं कर सका।'

तब उस पिताने कहा—'हे वत्स! तुमने उस समय आते ही जैसे ये प्रश्न मुझसे कहे हैं उसमेंसे मैं एकका भी विवेचन नहीं कर सकता। ऐसा ही तुम मुझे समझो; अर्थात् अपने अज्ञानरूप लिङ्गसे तुम उस विषयमें मेरा अज्ञान समझ लो; ऐसा क्यों? क्योंकि इन प्रश्नोंमेंसे मैं एकको भी नहीं जानता।

**यथाहमेषां प्रश्नानामेकञ्चनैकमपि न वेद न जान इति; यथा त्वमेवाङ्गैतान् प्रश्नान्न जानीषे तथाहमप्येतान्न जान इत्यर्थः। अतो मय्यन्यथाभावो न कर्तव्यः। कुत एतदेवम्? यतो न जाने; यद्यहमिमान्प्रश्नानवेदिष्यं विदितवानस्मि, कथं ते तुभ्यं प्रियाय पुत्राय समावर्तनकाले पुरा नावक्ष्यं नोक्तवानस्मि?॥५॥**

तात्पर्य यह है कि हे तात! जिस प्रकार तुम इन प्रश्नोंको नहीं जानते उसी प्रकार मैं भी नहीं जानता। अतः मेरे प्रति तुम्हें अन्यथाबुद्धि नहीं करनी चाहिये। किंतु यह बात ऐसी कैसे समझी जाय? क्योंकि मैं इन्हें जानता नहीं हूँ; यदि मैं इन प्रश्नोंको जानता तो पहले समावर्तनसंस्कारके समय अपने प्रियपुत्र तुम्हारे प्रति क्यों न कहता!'॥५॥

*पिता-पुत्रका प्रवाहणके पास आना*

इत्युक्त्वा— | ऐसा कहकर—

**स ह गौतमो राज्ञोऽर्धमेयाय तस्मै ह प्रास्तायार्हाञ्चकार स ह प्रातः सभाग उदेयायतꣳहोवाच मानुषस्य भगवन्गौतम वित्तस्य वरं वृणीथा इति। स होवाच तवैव राजन्मानुषं वित्तंयामेव कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तामेव मे ब्रूहीति स ह कृच्छ्री बभूव॥६॥**

तब वह गौतम राजाके स्थानपर आया। राजाने अपने यहाँ आये हुए उसकी पूजा की। [दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही राजाके सभामें पहुँचनेपर वह गौतम उसके पास गया। उसने उससे कहा—'हे भगवान् गौतम! आप मनुष्यसम्बन्धी धनका वर माँग लीजिये।' उसने कहा—'राजन्! ये मनुष्यसम्बन्धी धन आपहीके पास रहें; आपने मेरे पुत्रके प्रति जो बात [प्रश्नरूपसे] कही थी वही मुझे बतलाइये।' तब वह संकटमें पड़ गया॥६॥

स ह गौतमो गोत्रतः, राज्ञो जैवलेरर्थं स्थानमेयायागतवान्। तस्मै ह गौतमाय प्राप्तायार्हा-मर्हणां चकार कृतवान्। स च गौतमः कृतातिथ्य उषित्वा परेद्युः प्रातःकाले सभागे सभां गते राज्ञ्युदेयाय। भजनं भागः पूजा सेवा सह भागेन वर्तमानो वा सभागः पूज्यमानोऽन्यैः स्वयं गौतम उदेयाय राजान-मुद्गतवान्।

तं होवाच गौतमं राजा—मानुषस्य भगवन्गौतम मनुष्य-सम्बन्धिनो वित्तस्य ग्रामादेर्वरं वरणीयं कामं वृणीथाःप्रार्थयेथाः। स होवाच गौतमः—तवैव तिष्ठतु राजन्मानुषं वित्तम्; यामेव कुमारस्य मम पुत्रस्यान्ते समीपे वाचं पञ्चप्रश्नलक्षणा-मभाषथा उक्तवानसि तामेव वाचं मे मह्यं ब्रूहि कथयेत्युक्तो गौतमेन राजा सह कृच्छ्री दुःखी बभूव—कथं न्विदमिति॥ ६॥

वह गौतम-गोत्रोत्पन्न मुनि राजा जैवलिके स्थानपर आया। अपने यहाँ आये हुए उस गौतमकी उसने अर्हा—पूजा की। इस प्रकार आतिथ्यसत्कारसे सत्कृत वह गौतम उस दिन निवास कर दूसरे दिन सबेरे ही राजाके सभागत होने—सभामें पहुँचनेपर उसके समीप गया। अथवा ['सभागः' पाठ मानकर ऐसा अर्थ हो सकता है—] भाग—भजन अर्थात् पूजा-सेवाको कहते हैं जो भागसे युक्त अर्थात् दूसरेसे पूजित था वह गौतम स्वयं राजाके पास गया।

उस गौतमसे राजाने कहा—'हे भगवन्! आप मनुष्यसम्बन्धी ग्रामादि धनका वरण करने योग्य वर इच्छानुसार माँग लीजिये।' उस गौतमने कहा—'हे राजन्! यह मनुष्यसम्बन्धी धन तुम्हारे ही पास रहे। तुमने कुमार अर्थात् मेरे पुत्रके प्रति जो पाँच प्रश्नरूप बात कही थी वही मुझसे कहो। गौतमके इस प्रकार कहनेपर वह राजा यह कहता हुआ कि 'यह कैसे हो सकता है?' कृच्छ्री—दुःखी हो गया॥ ६॥

*प्रवाहणका वरप्रदान*

**स ह कृच्छ्रीभूतोऽप्रत्याख्येयं ब्राह्मणं मन्वानो न्यायेन विद्या वक्तव्येति मत्वा—**

इस प्रकार दुःखी हुए उस राजाने 'ब्राह्मणका प्रत्याख्यान नहीं करना चाहिये' यह मानते हुए तथा 'विद्याका नियमानुसार ही उपदेश करना चाहिये' यह समझते हुए—

**तꣳह चिरं वसेत्याज्ञापयाञ्चकार तꣳहोवाच यथा मा त्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान्गच्छति तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति तस्मै होवाच॥७॥**

उसे 'यहाँ चिरकालतक रहो' ऐसी आज्ञा दी, और उससे कहा—'हे गौतम! जिस प्रकार तुमने मुझसे कहा है [उससे तुम यह समझो कि] पूर्वकालमें तुमसे पहले यह विद्या ब्राह्मणोंके पास नहीं गयी। इसीसे सम्पूर्ण लोकोंमें [इस विद्याद्वारा] क्षत्रियोंका ही [शिष्योंके प्रति] अनुशासन होता रहा है।' ऐसा कहकर वह गौतमसे बोला—॥७॥

**तं ह गौतमं चिरं दीर्घकालं वसेत्येवमाज्ञापयाञ्चकाराज्ञप्तवान्। यत्पूर्वं प्रत्याख्यातवान्राजा विद्यां यच्च पश्चाच्चिरं वसेत्याज्ञप्तवान्, तन्निमित्तं ब्राह्मणं क्षमापयति हेतुवचनोक्त्या।**

उस गौतमको उसने 'यहाँ चिरकालतक रहो' ऐसी आज्ञा दी। राजाने पहले जो विद्याका प्रत्याख्यान किया और फिर उसे 'चिरकालतक रहो' ऐसी आज्ञा दी, उसका कारण बतलाते हुए वह ब्राह्मणसे क्षमा कराता है।

**तं होवाच राजा सर्वविद्यो ब्राह्मणोऽपि सन्यथा येन प्रकारेण मा मां हे गौतमावदस्त्वं**

राजाने उससे कहा—'सर्वविद्यासम्पन्न ब्राह्मण होनेपर भी हे गौतम! तुमने जिस प्रकार मुझसे 'उस विद्यारूप

तामेव विद्यालक्षणां वाचं मे ब्रूहीत्यज्ञानात्तेन त्वं जानीहि। तत्रास्ति वक्तव्यं यथा येन प्रकारेणेयं विद्या प्राक् त्वत्तो ब्राह्मणान्न गच्छति न गतवती। न च ब्राह्मणा अनया विद्ययानुशासितवन्तः। तथैतत्प्रसिद्धं लोकेयतस्तस्मादु पुरा पूर्वं सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव क्षत्रजातेरेवानया विद्यया प्रशासनं प्रशास्तृत्वं शिष्याणामभूद्बभूव। क्षत्रियपरम्परयैवेयं विद्यैतावन्तं कालमागता, तथाप्यहमेतां तुभ्यं वक्ष्यामि त्वत्सम्प्रदानादूर्ध्वं ब्राह्मणान्गमिष्यति। अतो मया यदुक्तं तत्क्षन्तुमर्हसीत्युक्त्वा तस्मै होवाच विद्यां राजा॥७॥

वाणीको ही मेरे प्रति कहो' इस प्रकार अज्ञानपूर्वक कहा है इससे तुम यह जानो। उसमें यह कारण बतलाना है कि जिससे यह विद्या तुमसे पहले ब्राह्मणोंमें नहीं गयी तथा इस विद्याद्वारा ब्राह्मणोंने उपदेश ही नहीं किया; क्योंकि इस प्रकार यह बात इस लोकमें प्रसिद्ध है इसीसे पूर्वकालमें समस्त लोकोंमें क्षत्रियका ही—क्षत्रियजातिका ही इस विद्याके द्वारा शिष्योंका शासन—शिक्षकत्व रहा है। अर्थात् क्षत्रियोंकी परम्परासे ही इतने समयतक यह विद्या आयी है। तथापि मैं तुम्हारे प्रति इसका उपदेश करूँगा। तुम्हें देनेके पश्चात् यह ब्राह्मणोंके पास जायगी। इसलिये मैंने जो कुछ कहा है उसे क्षमा करना। ऐसा कहकर राजाने उसे विद्याका उपदेश किया॥७॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
तृतीयखण्डभाष्यं सम्पूर्णम्॥३॥

# चतुर्थ खण्ड

*पञ्चम प्रश्नका उत्तर*

**पञ्चम्यामाहुतावाप इत्ययं प्रश्नः प्राथम्येनापाक्रियते।**

**तदपाकरणमन्वितरेषामपाकरणमनुकूलं भवेदिति। अग्निहोत्राहुत्योः कार्यारम्भो यः स उक्तो वाजसनेयके। तं प्रति प्रश्नाः, उत्क्रान्तिराहुत्योर्गतिः प्रतिष्ठा तृप्तिः पुनरावृत्तिर्लोकं प्रत्युत्थायीति। तेषां चापाकरणमुक्तं तत्रैव—"ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामतस्ते अन्तरिक्षमाविशतस्ते अन्तरिक्षमेवाहवनीयं कुर्वाते वायुं**

अब 'पाँचवीं आहुतिमें आप (जल) पुरुषसंज्ञक क्यों हो जाते हैं?' इस प्रश्नका सबसे पहले निराकरण किया जाता है, क्योंकि उसका निराकरण होनेपर अन्य प्रश्नोंका निराकरण सुगम हो जायगा। अग्निहोत्रकी [प्रातः-कालिक और सायंकालिक] दोनों आहुतियोंका जो कार्यारम्भ है वह वाजसनेयोपनिषद्में बतला दिया गया है। वहाँ उस (कार्यारम्भ)-के विषयमें उन दोनों आहुतियोंकी उत्क्रान्ति, गति, प्रतिष्ठा, तृप्ति, पुनरावृत्ति तथा लोकोंके प्रति उत्थान करना—ये छः प्रश्न हैं। वहीं उनका निराकरण भी इस प्रकार बतलाया गया है—"वे ये आहुतियाँ हवन किये जानेपर [अपूर्वरूप होकर उत्क्रमण करते हुए यजमानको आवृत कर उसके साथ] उत्क्रमण करती हुई अन्तरिक्षलोकमें प्रवेश करती हैं; और अन्तरिक्षलोकको ही आहवनीय, वायुको समिधू तथा

समिधं मरीचीरेव शुक्लामाहुतिं ते अन्तरिक्षं तर्पयतस्ते तत उत्क्रामतः'' इत्यादि; एवमेव पूर्ववद्द्विवं तर्पयतस्ते तत आवर्तेते। इमामाविश्य तर्पयित्वा पुरुषमाविशतः। ततः स्त्रियमाविश्य लोकं प्रत्युत्थायी भवतीति।

किरणोंको शुक्ल आहुति बनाती हैं; इस प्रकार ये अन्तरिक्षलोकको तृप्त करती हैं* फिर वहाँसे [यजमानके उत्क्रमण करनेपर] वे उत्क्रमण करती हैं'' इत्यादिरूपसे इसी तरह पहलेहीके समान द्युलोकको [द्युलोकस्थ यजमानको फलप्रदानद्वारा] तृप्त करती हैं। तत्पश्चात् [प्रारब्धक्षय होनेपर यजमानके पुनरावर्तन करनेपर] वे वहाँसे लौट आती हैं, तथा इस लोकमें प्रवेश कर इसे तृप्त करनेके अनन्तर [रेतःसेकमें समर्थ] पुरुषमें प्रवेश करती हैं। फिर स्त्रीमें प्रवेश कर वे परलोकके प्रति [लौकिक कर्म कराती हुई] उत्थान करनेवाली होती हैं।†

तत्राग्निहोत्राहुत्योः कार्यारम्भमात्रमेवंप्रकारं भवतीत्युक्तम्। इह तु तं कार्यारम्भमग्निहोत्रापूर्वविपरिणामलक्षणं पञ्चधा प्रविभज्याग्नित्वेनोपासनमुत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधनं विधित्सन्नाह। असौ वाव लोको गौतमाग्निरित्यादि।

वहाँ (वाजसनेयोपनिषद्में) तो यह बतलाया गया था कि अग्निहोत्रकी आहुतियोंका केवल कार्यारम्भमात्र इस प्रकार होता है; किंतु यहाँ अग्निहोत्रके अपूर्वके विपरिणामरूप उस कार्यारम्भको पाँच प्रकारसे विभक्त कर उनमें उत्तरमार्गकी प्राप्तिके साधनभूत अग्निभावसे उपासनाका विधान करनेकी इच्छासे श्रुति 'असौ वाव लोको गौतमाग्निः' इत्यादि कथन करती है।

---

* अर्थात् अन्तरिक्षलोकस्थ यजमानको फलोन्मुख करती हैं।

† अर्थात् गर्भरूपसे उत्पन्न हुए यजमानको कर्मानुष्ठानमें समर्थ देहकी प्राप्ति करा उसके द्वारा पारलौकिक कर्म कराती हुई उसका परलोकके प्रति गमन कराती हैं।

इह सायंप्रातरग्निहोत्राहुती हुते पयआदिसाधने श्रद्धापुरःसरे आहवनीयाग्निसमिद्धूमार्चिरङ्गारविस्फुलिङ्गभाविते कर्त्रादिकारकभाविते चान्तरिक्षक्रमेणोत्क्रम्य द्युलोकं प्रविशन्त्यौ सूक्ष्मभूते अप्समवायित्वादप्शब्दवाच्ये श्रद्धाहेतुत्वाच्च श्रद्धाशब्दवाच्ये। तयोरधिकरणोऽग्निः, अन्यच्च तत्संबद्धं समिदादीत्युच्यते। या चासावग्न्यादिभावना हुत्योः सापि तथैव निर्दिश्यते।

इस लोकमें जल आदि जिनके साधन हैं, जो श्रद्धापूर्वक निष्पन्न की जाती हैं, जिनमें आहवनीय अग्नि, समिध्, धूम, अर्चि, अङ्गार और विस्फुलिङ्गकी तथा कर्ता आदि कारककी भावना की गयी है, वे अग्निहोत्रकी सायंकालिक एवं प्रातःकालिक दो आहुतियाँ अन्तरिक्षक्रमसे उत्क्रमण कर द्युलोकमें प्रवेश करती हुई सूक्ष्म एवं अप्-समवायिनी (जलमयी) होनेके कारण 'अप्' शब्दकी वाच्य हैं और श्रद्धाजनित होनेके कारण 'श्रद्धा' शब्दकी वाच्य हैं। यहाँ उनके आश्रयभूत अग्नि और उससे सम्बद्ध जो समिध् आदि हैं उनका वर्णन किया जाता है तथा उन आहुतियोंमें जो अग्नि आदिकी भावना है उसका भी उसी प्रकार निर्देश किया जाता है।

*लोकरूपा अग्निविद्या*

**असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥**

हे गौतम! यह प्रसिद्ध [द्यु-] लोक ही अग्नि है। उसका आदित्य ही समिध् है, किरणें धूम हैं, दिन ज्वाला है, चन्द्रमा अङ्गार है और नक्षत्र विस्फुलिङ्ग (चिनगारियाँ) हैं ॥ १ ॥

असौ वाव लोकोऽग्निर्हे गौतम यथाग्निहोत्राधिकरणमाहवनीय

हे गौतम! जिस प्रकार इस लोकमें आहवनीयाग्नि अग्निहोत्रका अधिकरण है उसी प्रकार यह प्रसिद्ध लोक ही अग्नि है। उस द्युलोकसंज्ञक

इह तस्याग्नेर्द्युलोकाख्यस्यादित्य एव समित्, तेन हीद्धोऽसौ लोको दीप्यते अतः समिन्धनात्समिदादित्यः। रश्मयो धूमस्तदुत्थानात्, समिधो हि धूम उत्तिष्ठति। अहरर्चिः प्रकाशसामान्यात्, आदित्यकार्यत्वाच्च। चन्द्रमा अङ्गाराः, अहःप्रशमेऽभिव्यक्तेः अर्चिषो हि प्रशमेऽङ्गारा अभिव्यज्यन्ते। नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाश्चन्द्रमसोऽवयवा इव विप्रकीर्णत्वसामान्यात्॥ १॥

अग्निका आदित्य ही समिध् है; उससे सम्यक्प्रकारसे दीप्त हुआ ही यह लोक देदीप्यमान होता है; अतः सम्यक् प्रकारसे इन्धन (दीपन) करनेके कारण आदित्य ही समिध् (इन्धन) है। उससे निकलनेके कारण किरणें धूम हैं, क्योंकि समिध्से ही धूम निकला करता है। प्रकाशमें समानता और आदित्यका कार्य होनेके कारण दिन ज्वाला है। चन्द्रमा अङ्गार है, क्योंकि यह दिनके शान्त होनेपर अभिव्यक्त होता है; लौकिक अङ्गारे भी ज्वालाके शान्त होनेपर ही प्रकट हुआ करते हैं। तथा चन्द्रमाके अवयवोंके समान नक्षत्रगण विस्फुलिङ्ग हैं, क्योंकि इधर-उधर छिटके रहनेमें [विस्फुलिङ्गोंके साथ] उनकी समानता है॥ १॥

**तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति॥ २॥**

उस इस [द्युलोकरूप] अग्निमें देवगण श्रद्धाका हवन करते हैं। उस आहुतिसे सोम राजाकी उत्पत्ति होती हैं॥ २॥

तस्मिन्नेतस्मिन्यथोक्तलक्षणेऽग्नौ देवा यजमानप्राणा अग्न्यादिरूपा अधिदैवतम्। श्रद्धामग्निहोत्राहुतिपरिणामावस्थारूपाः सूक्ष्मा आपः श्रद्धाभावितः श्रद्धा

उस इस उपर्युक्त लक्षणवाले अग्निमें देवगण—[अध्यात्मदृष्टिसे] यजमानके प्राण तथा अधिदैवतरूपसे अग्नि आदि देवगण श्रद्धाका [हवन करते हैं]। अग्निहोत्रकी आहुतियोंकी परिणामावस्थारूप सूक्ष्म जल श्रद्धारूपसे

उच्यन्ते। पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीत्यपां होम्यतया प्रश्ने श्रुतत्वात्। श्रद्धा वा आपः, श्रद्धामेवारभ्य प्रणीय प्रचरन्ति, इति च विज्ञायते। तां श्रद्धामबूपां जुह्वति।

तस्या आहुतेः सोमो राजापां श्रद्धाशब्दवाच्यानां द्युलोकाग्नौ हुतानां परिणामः सोमो राजा संभवति। यथर्ग्वेदादिपुष्परसा ऋगादिमधुकरोपनीतास्त आदित्ये यशआदिकार्यं रोहितादि-रूपलक्षणमारभन्त इत्युक्तं तथेमा अग्निहोत्राहुतिसमवायिन्यः सूक्ष्माः श्रद्धाशब्दवाच्या आपो द्युलोकमनुप्रविश्य चान्द्रं कार्य-मारभन्ते फलरूपमग्निहोत्राहुत्योः।

भावित होनेके कारण श्रद्धा कहा जाता है। [यहाँ 'श्रद्धा' शब्दसे जलका उल्लेख इसलिये किया गया है] क्योंकि 'पाँचवीं' आहुति देनेपर जल 'पुरुष' शब्दवाची हो जाता है' इस प्रश्नमें जल होम्यद्रव्यरूपसे सुना गया था। इसके सिवा यह प्रसिद्ध भी है कि 'श्रद्धा ही जल है तथा श्रद्धासे आरम्भ करके ही लोग सामग्री जुटाकर कर्म करते हैं'। उस जलरूपा श्रद्धाका वे हवन करते हैं।

उस आहुतिसे राजा सोम होता है अर्थात् 'श्रद्धा' शब्दवाच्य जलका द्युलोकरूप अग्निमें हवन किये जानेपर उसका परिणामरूप दीप्तिमान् चन्द्रमा होता है। जिस प्रकार (अ० ३ खं० १ में) यह कहा गया है कि 'ऋग्वेदादि पुष्पके रस ऋगादि मधुकरोंद्वारा ले जाये जानेपर आदित्यमें जिस प्रकार रोहितादिरूप यज्ञ आदि कार्य आरम्भ करते हैं, उसी प्रकार अग्निहोत्रकी आहुतियोंसे सम्बद्ध ये 'श्रद्धा' शब्दवाच्य सूक्ष्म जल द्युलोकमें प्रवेश कर अग्निहोत्रकी आहुतियोंका फलरूप चन्द्रमासम्बन्धी कार्य आरम्भ करते हैं।

यजमानाश्च तत्कर्तार आहुतिमया आहुतिभावनाभाविता आहुतिरूपेण कर्मणाकृष्टाः श्रद्धाप्समवायिनो द्युलोकमनुप्रविश्य सोमभूता भवन्ति। तदर्थं हि तैरग्निहोत्रं हुतम्। अत्र त्वाहुति-परिणाम एव पञ्चाग्निसंबन्ध-क्रमेण प्राधान्येन विवक्षित उपासनार्थं न यजमानानां गतिः। तां त्वविदुषां धूमादिक्रमेणोत्तरत्र वक्ष्यति विदुषां चोत्तरां विद्या-कृताम्॥ २॥

तथा उस हवनके करनेवाले यजमान आहुतिमय—आहुतिकी भावनासे भावित आहुतिरूप कर्मसे आकर्षित हो श्रद्धारूप जलसे पूर्ण हो द्युलोकमें प्रवेश कर चन्द्रमारूप हो जाते हैं, क्योंकि उसीके लिये उन्होंने अग्निहोत्र किया था; किंतु यहाँ तो उपासनाके लिये प्रधानतया पाँच अग्नियोंके सम्बन्धसे आहुतियोंका परिणाम ही बतलाना अभीष्ट है, यजमानोंकी गति नहीं; उसका तो श्रुति आगे चलकर धूमादिक्रमसे अविद्वानोंकी गतिका तथा विद्यासे प्राप्त होनेवाली विद्वानोंकी उत्तरमार्गीय गतिका वर्णन करेगी॥ २॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
चतुर्थखण्डभाष्यं सम्पूर्णम्॥ ४॥

# पञ्चम खण्ड

*पर्जन्यरूपा अग्निविद्या*

द्वितीयहोमपर्यायार्थमाह—

अब श्रुति द्वितीय होमके पर्यायार्थका वर्णन करती है—

**पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदभ्रं धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादनयो विस्फुलिङ्गाः॥ १॥**

हे गौतम! पर्जन्य ही अग्नि है; उसका वायु ही समिध् है, बादल धूम है, विद्युत् ज्वाला है, वज्र अङ्गार है तथा गर्जन विस्फुलिङ्ग हैं॥ १॥

पर्जन्यो वाव पर्जन्य एव गौतमाग्निः पर्जन्यो नाम वृष्ट्युपकरणाभिमानी देवताविशेषः। तस्य वायुरेव समित्। वायुना हि पर्जन्योऽग्निः समिध्यते, पुरोवातादिप्राबल्ये वृष्टिदर्शना। अभ्र धूमो धूमकार्यत्वाद् धूमवच्च लक्ष्यमाणत्वात्। विद्युदर्चिः, प्रकाशसामान्यात्। अशनिरङ्गाराः, काठिन्याद्विद्युत्सम्बन्धाद्वा। ह्रादनयो विस्फुलिङ्गाः, ह्रादनयो गर्जितशब्दा मेघानां विप्रकीर्णत्वसामान्यात्॥ १॥

हे गौतम! 'पर्जन्यो वाव'—पर्जन्य ही अग्नि है—वृष्टिके जो साधन हैं उनके अभिमानी देवताविशेषका नाम 'पर्जन्य' है। उसका वायु ही समिध् है, क्योंकि पर्जन्यरूप अग्नि वायुसे ही प्रदीप्त होता है, जैसा कि पूर्वीय वायु आदिकी प्रबलता होनेपर वृष्टि होती देखी जानेसे सिद्ध होता है। धूमका कार्य होने तथा धूमवत् देखा जानेके कारण बादल धूम है। प्रकाशमें समानता होनेके कारण विद्युत् (बिजली) ज्वाला है। कठिनताके कारण अथवा विद्युत्से सम्बन्ध रखनेके कारण वज्र अङ्गार है। ह्रादनय विस्फुलिङ्ग है; मेघोंकी गर्जनाके शब्दोंको 'ह्रादनि' कहते हैं; विप्रकीर्णत्व (इधर-उधर फैले रहने)-में समानता होनेके कारण वे विस्फुलिङ्ग हैं॥ १॥

**तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमꣳराजानं जुह्वति तस्या आहुतेर्वर्षꣳसंभवति॥ २॥**

उस अग्निमें देवगण राजा सोमका हवन करते हैं; उस आहुतिसे वर्षा होती है॥ २॥

**तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः पूर्ववत्सोमं राजानं जुह्वति। तस्या आहुतेर्वर्षं संभवति। श्रद्धाख्या आपः सोमाकारपरिणता द्वितीये पर्याये पर्जन्याग्निं प्राप्य वृष्टित्वेन परिणमन्ते॥ २॥**

उस इस अग्निमें देवगण पूर्ववत् राजा सोमका हवन करते हैं। उस आहुतिसे वर्षा होती है। श्रद्धासंज्ञक आप इस द्वितीय पर्यायमें सोमके आकारमें परिणत हो पर्जन्याग्निको प्राप्त होकर वृष्टिरूपमें परिणत हो जाते हैं॥ २॥

**इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये पञ्चमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम्॥ ५॥**

# षष्ठ खण्ड

*पृथिवीरूपा अग्निविद्या*

**पृथिवी वाव गौतमाग्निस्तस्याः संवत्सर एव समिदाकाशो धूमो रात्रिरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥**

हे गौतम! पृथिवी ही अग्नि है। उसका संवत्सर ही समिध् है, आकाश धूम है, रात्रि ज्वाला है, दिशाएँ अङ्गारे हैं तथा अवान्तर दिशाएँ विस्फुलिङ्ग हैं ॥ १ ॥

**पृथिवी वाव गौतमाग्निरित्यादि पूर्ववत्। तस्याः पृथिव्याख्यस्याग्नेः संवत्सर एव समित्; संवत्सरेण हि कालेन समिद्धा पृथिवी व्रीह्यादिनिष्पत्तये भवति। आकाशो धूमः, पृथिव्या इवोत्थित आकाशो दृश्यते; यथाग्नेर्धूमः। रात्रिरर्चिः, पृथिव्या ह्यप्रकाशात्मिकाया अनुरूपा रात्रिः; तमोरूपत्वात्, अग्नेरिवानुरूपमर्चिः।**

'हे गौतम! पृथिवी ही अग्नि है' इत्यादि पूर्ववत् समझना चाहिये। उस पृथिवीसंज्ञक अग्निका संवत्सर ही समिध् है, क्योंकि संवत्सररूप कालसे समिद्ध होकर अर्थात् पुष्टि लाभ करके ही पृथिवी धान्यादिकी निष्पत्तिमें समर्थ होती है। आकाश धूम है, क्योंकि आकाश पृथिवीसे उठा हुआ-सा दिखायी देता है, जिस प्रकार कि अग्निसे धुआँ उठता दिखायी देता है। रात्रि ज्वाला है; अप्रकाशात्मिका पृथिवीके अनुरूप ही रात्रि ज्वाला है, क्योंकि वह तमोरूपा है; अतः [पृथिवीरूप] अग्निके समान यह उसके अनुरूप

दिशोऽङ्गाराः, उपशान्तत्व-सामान्यात्। अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः, क्षुद्रत्व-सामान्यात्॥ १॥

ज्वाला है। उपशान्तिमें समानता होनेके कारण दिशाएँ अङ्गारे हैं तथा क्षुद्रत्वमें समानता होनेके कारण अवान्तर-दिशाएँ (कोण) विस्फुलिङ्ग हैं॥ १॥

**तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति तस्या आहुतेरन्नꣳ-संभवति॥ २॥**

उस इस अग्निमें देवगण वर्षाका हवन करते हैं; उस आहुतिसे अन्न होता है॥ २॥

तस्मिन्नित्यादि समानम्। तस्या आहुतेरन्नं व्रीहियवादि संभवति॥ २॥

'तस्मिन्नेतस्मिन्' इत्यादि श्रुतिका अर्थ पूर्ववत् है। उस आहुतिसे व्रीहियवादिरूप अन्न होता है॥ २॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये षष्ठखण्डभाष्यं सम्पूर्णम्॥ ६॥

# सप्तम खण्ड

*पुरुषरूपा अग्निविद्या*

**पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणो धूमो जिह्वार्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः॥ १॥**

हे गौतम! पुरुष ही अग्नि है। उसकी वाक् ही समिध् है, प्राण धूम है, जिह्वा ज्वाला है, चक्षु अङ्गारे और श्रोत्र विस्फुलिङ्ग हैं॥ १॥

**पुरुषो वाव गौतमाग्निः। तस्य वागेव समित्, वाचा हि मुखेन समिध्यते पुरुषो न मूकः। प्राणो धूमः, धूम इव मुखान्निर्गमनात्। जिह्वार्चिर्लोहितत्वात्। चक्षुरङ्गाराः, मास आश्रयत्वात्। श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः, विप्रकीर्णत्व-साम्यात्॥ १॥**

हे गौतम! पुरुष ही अग्नि है। उसकी वाक् ही समिध् है, क्योंकि वाणीरूप मुखके द्वारा ही पुरुष सुशोभित होता है, मूक पुरुष शोभित नहीं होता। प्राण धूम है, क्योंकि वह धूमके समान मुखसे निकलता है; लाल होनेके कारण जिह्वा ज्वाला है; प्रकाशका आश्रय होनेके कारण नेत्र अङ्गारे हैं तथा विप्रकीर्णत्वमें समानता होनेसे श्रोत्र विस्फुलिङ्ग हैं॥ १॥

**तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुते रेतः संभवति॥ २॥**

उस इस अग्निमें देवगण अन्नका होम करते हैं। उस आहुतिसे वीर्य उत्पन्न होता है॥ २॥

समानमन्यत्। अन्नं जुह्वति व्रीह्यादिसंस्कृतम्। तस्या आहुते रेतः संभवति॥ २॥

शेष अर्थ पूर्ववत् है। देवगण इसमें व्रीहि आदिसे सम्यक् प्रकारसे तैयार किये हुए अन्नका हवन करते हैं। उस आहुतिसे वीर्य उत्पन्न होता है॥ २॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
सप्तमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम्॥ ७॥

# अष्टम खण्ड

*स्त्रीरूपा अग्निविद्या*

**योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥**

हे गौतम! स्त्री ही अग्नि है। उसका उपस्थ ही समिध् है, पुरुष जो उपमन्त्रण करता है वह धूम है, योनि ज्वाला है तथा जो भीतरकी ओर करता है वह अङ्गारे हैं और उससे जो सुख होता है वह विस्फुलिङ्ग हैं ॥ १ ॥

**योषा वाव गौतमाग्निः। तस्या उपस्थ एव समित्, तेन हि सा पुत्राद्युत्पादनाय समिध्यते। यदुपमन्त्रयते स धूमः, स्त्रीसंभवादुपमन्त्रणस्य। योनिरर्चिर्लोहितत्वात्। यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अग्निसंबन्धात्। अभिनन्दाः सुखलवा विस्फुलिङ्गाः क्षुद्रत्वात् ॥ १ ॥**

हे गौतम! स्त्री ही अग्नि है। उसका उपस्थ ही समिध् है, क्योंकि उससे वह पुत्रादि उत्पन्न करनेके लिये समिद्ध होती है। पुरुष जो उपमन्त्रण करता है वह धूम है, क्योंकि उपमन्त्रणकी प्रवृत्ति स्त्रीसे ही होती है। लोहितवर्ण होनेके कारण योनि ज्वाला है तथा जो भीतरकी ओर करता है वह अग्निके सम्बन्धके कारण अङ्गारे हैं और अभिनन्द—सुखके कणमात्र क्षुद्र होनेके कारण विस्फुलिङ्ग हैं ॥ १ ॥

**तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भः संभवति॥ २॥**

उस इस अग्निमें देवगण वीर्यका हवन करते हैं, उस आहुतिसे गर्भ उत्पन्न होता है॥ २॥

**तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति, तस्या आहुतेर्गर्भः संभवतीति; एवं श्रद्धासोमवर्षान्नरेतोहवनपर्यायक्रमेणाप एव गर्भीभूतास्ताः। तत्रापामाहुतिसमवायित्वात्प्राधान्यविवक्षाः आपः पञ्चम्यामाहुतौ पुरुषवचसो भवन्तीति। न त्वाप एव केवलाः सोमादिकार्यमारभन्ते, न चापोऽत्रिवृत्कृताः सन्तीति। त्रिवृत्कृतत्वेऽपि विशेषसंज्ञालाभो दृष्टः पृथिवीयमिमा आपोऽयमग्निरित्यन्यतमबाहुल्यनिमित्तः।**

उस इस अग्निमें देवगण वीर्यका हवन करते हैं; उस आहुतिसे गर्भ उत्पन्न होता है—इस प्रकार श्रद्धा, सोम, वर्षा, अन्न और रेतःरूप आहुतियोंके हवनके पर्यायक्रमसे वह जल ही गर्भरूपमें परिणत होता है। उनमें आहुतियोंसे सम्बद्ध होनेके कारण श्रुतिको जलकी ही प्रधानता बतलानी अभीष्ट है, इसीसे उसने कहा है कि पाँचवीं आहुतिमें जल पुरुषवाची हो जाता है। केवल जल ही सोमादि कार्य आरम्भ कर देते हों—यह बात नहीं है, और न जल अत्रिवृत्कृत (पृथिवी, जल और तेज इन तीनोंके सम्मिश्रणसे रहित) हों—ऐसी ही बात है। त्रिवृत्कृत होनेपर भी एक-एक भूतकी बहुलताके कारण उनमेंसे प्रत्येकको 'यह पृथिवी है, यह जल है, यह अग्नि है' इस प्रकार भिन्न-भिन्न नाम प्राप्त होता देखा जाता है। अतः जलकी बहुलता होनेके कारण

तस्मात्समुदितान्येव भूतान्यब्-बाहुल्यात्कर्मसमवायीनि सोमादि-कार्यारम्भकाण्याप इत्युच्यन्ते। दृश्यते च द्रवबाहुल्यं सोमवृष्ट्यन्नरेतोदेहेषु। बहुद्रवं च शरीरं यद्यपि पार्थिवम्। तत्र पञ्चम्यामाहुतौ हुतायां रेतोरूपा आपो गर्भीभूताः॥ २॥

कर्ममें सम्मिलित हुए सभी भूत सोमादिकार्य आरम्भ करनेवाले 'जल' कहे जाते हैं। इसके सिवा सोम, वृष्टि, अन्न, वीर्य और देहमें द्रवत्वकी बहुलता भी देखी ही जाती है। शरीर यद्यपि पार्थिव होता है तो भी उसमें द्रवकी अधिकता होती है। उनमें पाँचवीं आहुतिके हुत होनेपर वीर्यरूप जल गर्भमें परिणत हो जाता है [अर्थात् 'पुरुष' शब्दवाची हो जाता है]॥ २॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये-
ऽष्टमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम्॥ ८॥

# नवम खण्ड

*पञ्चम आहुतिमें पुरुषत्वको प्राप्त हुए जलकी गति*

**इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति स उल्बावृतो गर्भो दश वा नव वा मासानन्तःशयित्वा यावद्वाथ जायते॥ १॥**

इस प्रकार पाँचवीं आहुतिके दिये जानेपर आप 'पुरुष' शब्दवाची हो जाते हैं। वह जरायुसे आवृत हुआ गर्भ दस या नौ महीने अथवा जबतक [पूर्णाङ्ग नहीं होता तबतक माताकी कुक्षिके] भीतर ही शयन करनेके अनन्तर फिर उत्पन्न होता है॥ १॥

**इति त्वेवं तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति व्याख्यात एकः प्रश्नः यत्तु द्युलोकादिमां प्रत्यावृत्तयोराहुत्योः पृथिवीं पुरुषं स्त्रियं क्रमेणाविश्य लोकं प्रत्युत्थायी भवतीति वाजसनेयक उक्तं तत्प्रासङ्गिकमिहोच्यते। इह च प्रथमे प्रश्न उक्तम् 'वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्तीति?' तस्य चायमुपक्रमः।**

इस प्रकार पाँचवीं आहुतिमें जल पुरुषवाची हो जाता है—इस एक प्रश्नकी व्याख्या हुई। तथा वाजसनेय-श्रुतिमें जो द्युलोकसे पृथिवीकी ओर आयी हुई दो आहुतियोंके विषयमें यह कहा गया है कि वे क्रमशः पृथिवी, पुरुष और स्त्रीमें प्रवेश कर परलोकके प्रति उत्थान करनेवाली होती है, उसका भी प्रसङ्गवश यहाँ वर्णन कर दिया जाता है। यहाँ जो पहले प्रश्नमें कहा गया है कि 'क्या तुम जानते हो कि यह प्रजा [मरनेके अनन्तर] यहाँसे कहाँ जाती है?' उसका यह उपक्रम है।

**स गर्भोऽपां पञ्चमः परिणामविशेष आहुतिकर्मसमवायिनीनां श्रद्धाशब्दवाच्यानामुल्बावृत**

आहुतिकर्मसे सम्बद्ध 'श्रद्धा' शब्दवाच्य जलका पञ्चम परिणाम-विशेष वह गर्भ उल्बावृत—उल्ब

उल्बेनजरायुणावृतो वेष्टितो दश वा नव वा मासानन्तर्मातुः कुक्षौ शयित्वा यावद्वा यावता कालेन न्यूनेनातिरिक्तेन वाथानन्तरं जायते।

उल्बावृत इत्यादि वैराग्यहेतोरिदमुच्यते। कष्टं हि मातुः कुक्षौ मूत्रपुरीषवातपित्तश्लेष्मादिपूर्णे तदनुलिप्तस्य गर्भस्योल्बाशुचिपटावृतस्य लोहितरेतोऽशुचिबीजस्य मातुरशितपीतरसानुप्रवेशेन विवर्धमानस्य निरुद्धशक्तिबलवीर्यतेजः प्रज्ञाचेष्टस्य शयनम्। ततो योनिद्वारेण पीड्यमानस्य कष्टतरा निःसृतिर्जन्मेति वैराग्यं ग्राहयति। मुहूर्तमप्यसह्यं दश वा नव वा मासानतिदीर्घकालमन्तः शयित्वेति च॥ १॥

अर्थात् जरायुसंज्ञक गर्भवेष्टन चर्मसे आवृत—वेष्टित हुआ दस या नौ मासतक अथवा जितने भी न्यून या अधिक समयमें पूर्णाङ्ग हो, माताकी कुक्षिमें शयन करनेके अनन्तर फिर उत्पन्न होता है।

उल्बावृत इत्यादि यह सब कथन वैराग्यके लिये है। उल्बरूप अपवित्र वस्त्रसे लिपटे हुए, रज और वीर्यरूप अपवित्र बीजवाले, माताके खाये-पीये पदार्थोंके रसके प्रवेशसे बढ़नेवाले तथा जिसके शक्ति, बल, वीर्य, तेज, बुद्धि और चेष्टा—ये सब निरुद्ध (अविकसित) रहते हैं उस गर्भका माताकी मल-मूत्र-वात-पित्त एवं कफादिसे भरी हुई कुक्षिमें शयन करना कष्टमय ही है। उससे भी अधिक कष्टप्रद योनिद्वारसे पीड़ित हुए गर्भका बाहर निकलनारूप जन्म है; इस प्रकार श्रुति वैराग्यका ग्रहण कराती है। इसके सिवा जो एक मुहूर्त्तके लिये भी असह्य है उस मातृकुक्षिमें दस या नौ मासके दीर्घकालपर्यन्त शयन करनेके अनन्तर [जन्म लेना भी वैराग्यका ही हेतु है]॥ १॥

स जातो यावदायुषं जीवति तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्रय एव हरन्ति यत एवेतो यतः संभूतो भवति॥ २॥

इस प्रकार उत्पन्न होनेपर वह आयुपर्यन्त जीवित रहता है। फिर मरनेपर कर्मवश परलोकको प्रस्थित हुए उस जीवको अग्निके प्रति ही ले जाते हैं, जहाँसे कि वह आया था और जिससे उत्पन्न हुआ था॥ २॥

**स एवं जातो यावदायुषं पुनः पुनर्घटीयन्त्रवद्गमनागमनाय कर्म कुर्वन्कुलालचक्रवद्वा तिर्यग्-भ्रमणाय यावत्कर्मणोपात्तमायु-स्तावज्जीवति। तमेनं क्षीणायुषं प्रेतं मृतं दिष्टं कर्मणा निर्दिष्टं पर-लोकं प्रति यदि चेज्जीवन्वैदिके कर्मणि ज्ञाने वाधिकृतस्तमेनं मृतमितोऽस्माद् ग्रामादग्नयेऽग्न्यर्थ-मृत्विजो हरन्ति पुत्रा वान्त्य-कर्मणे। यत एवेत आगतोऽग्नेः सकाशाच्छ्रद्धाद्याहुतिक्रमेण, यतश्च पञ्चभ्योऽग्निभ्यः संभूत उत्पन्नो भवति, तस्मा एवाग्नये हरन्ति स्वामेव योनिमग्नि-मापादयन्तीत्यर्थः॥ २॥**

इस प्रकार उत्पन्न हुआ वह जबतक आयु होती है घटीयन्त्रके समान पुनः-पुनः आवागमनके लिये अथवा कुलालचक्रके समान चारों ओर चक्कर काटनेके लिये कर्म करता हुआ कर्मद्वारा जितनी आयु प्राप्त की होती है उतना जीवित रहता है। फिर जिसकी आयु क्षीण हो गयी है ऐसे इस प्रेत—मृत एवं दिष्ट—कर्मद्वारा परलोकके प्रति नियुक्त किये हुए इस जीवको—क्योंकि यदि वह जीवित रहता तो कर्म अथवा ज्ञानका अधिकारी होता, अतः उस मरे हुए प्राणीको यहाँसे—इस ग्रामसे ऋत्विक् अथवा पुत्रगण अन्त्येष्टि कर्मके लिये अग्निके प्रति ले जाते हैं, जिस अग्निसे कि श्रद्धा आदि आहुतियोंके क्रमसे वह यहाँ आया था तथा जिन पाँच अग्नियोंसे वह उत्पन्न होता है, उस अग्निके प्रति ही वे इसे ले जाते हैं। तात्पर्य यह है कि उसे अपनी योनिभूत अग्निको ही प्राप्त करा देते हैं॥ २॥

**इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये नवमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम्॥ ९॥**

# दशम खण्ड

*प्रथम प्रश्नका उत्तर*

**वेत्थ यदितोऽधि प्रजा प्रयन्तीत्ययं प्रश्नः प्रत्युपस्थितो-ऽपाकर्तव्यतया।**

अब, 'क्या तू जानता है कि इस लोकसे परे प्रजा कहाँ जाती है?' ऐसा यह प्रश्न निराकरणके लिये प्रस्तुत किया जाता है।

**तद्य इत्थं विदुः। ये चे मेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाण-पक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासाꣳस्तान्॥ १॥ मासेभ्यः संवत्सरꣳसंवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति॥ २॥**

वे जो कि इस प्रकार जानते हैं तथा वे जो कि वनमें श्रद्धा और तप इनकी उपासना करते हैं [प्राणप्रयाणके अनन्तर] अर्चिके अभिमानी देवताओंको प्राप्त होते हैं; अर्चिके अभिमानी देवताओंसे दिवसाभिमानी देवताओंको; दिवसाभिमानियोंसे शुक्लपक्षाभिमानी देवताओंको; शुक्लपक्षाभिमानियोंसे जिन छः महीनोंमें सूर्य उत्तरकी ओर जाता है, उन छः महीनोंको॥ १॥ उन महीनोंसे संवत्सरको; संवत्सरसे आदित्यको; आदित्यसे चन्द्रमाको और चन्द्रमासे विद्युत्को प्राप्त होते हैं। वहाँ एक अमानव पुरुष है, वह उन्हें ब्रह्म (कार्यब्रह्म)-को प्राप्त करा देता है। यह देवयानमार्ग है॥ २॥

तत्तत्र लोकं प्रत्युत्थिताना-
गृहस्थेषु विदुषा- मधिकृतानां गृह-
मुत्तरमार्गः मेधिनां य इत्थ-
कर्मिणां च दक्षिण- मेवं यथोक्तं
मार्ग इति स्थापनम् पञ्चाग्निदर्शनं
द्युलोकाद्यग्निभ्यो वयं क्रमेण
जाता अग्निस्वरूपाः
पञ्चाग्न्यात्मान इत्येवं विदु-
र्जानीयुः।

कथमवगम्यत इत्थं विदु-
रिति गृहस्था एवोच्यन्ते नान्य
इति?

गृहस्थानां ये त्वनित्थंविदः केवलेष्टापूर्तदत्तपरास्ते धूमादिना चन्द्रं गच्छन्तीति वक्ष्यति। ये चारण्योपलक्षिता वैखानसाः परिव्राजकाश्च श्रद्धा तप इत्युपासते तेषां चेत्थंविद्भिः सहार्चिरादिना गमनं वक्ष्यति पारिशेष्यादग्निहोत्राहुतिसंबन्धाच्च गृहस्था एव गृह्यन्त इत्थं विदु-रिति।

वहाँ इस लोकके प्रति उत्थित हुए अधिकारी गृहस्थोंमें जो इस प्रकार यानी उपर्युक्त पञ्चाग्निविद्याको जानते हैं अर्थात् जो ऐसा समझते हैं कि द्युलोकादि अग्नियोंसे क्रमशः उत्पन्न हुए हमलोग अग्निस्वरूप यानी पञ्चाग्निमय हैं [वे अर्चिके अभिमानी देवताओंको प्राप्त होते हैं]।

शङ्का—'इत्थं विदुः' इस [सामान्य निर्देश]-से यह कैसे जाना गया कि यहाँ गृहस्थोंके विषयमें ही कहा गया है, औरोंके लिये नहीं?

समाधान—गृहस्थोंमें जो ऐसा जाननेवाले नहीं हैं, बल्कि केवल इष्टापूर्त एवं दत्त कर्मोंमें ही लगे रहते हैं वे धूमादिके द्वारा चन्द्रमाको ही प्राप्त होते हैं—ऐसा श्रुति आगे कहेगी; तथा जो 'अरण्य' पदसे उपलक्षित वानप्रस्थ एवं संन्यासी 'श्रद्धा और तप' इनकी उपासना करते हैं उनका तो इस प्रकार जाननेवालोंके साथ गमन करना श्रुति आगे कहेगी; अतः परिशेषसे और अग्निहोत्रकी आहुतियोंका सम्बन्ध होनेके कारण भी 'इत्थं विदुः' इस कथनसे गृहस्थोंका ही ग्रहण होता है।

ननु ब्रह्मचारिणोऽप्यगृहीता ग्रामश्रुत्यारण्यश्रुत्या चानुपलक्षिता विद्यन्ते कथं पारिशेष्य-सिद्धिः।

नैष दोषः, पुराणस्मृति-प्रामाण्यादूर्ध्वरेतसां नैष्ठिकब्रह्मचारिणा-मुत्तरेणार्यम्णः पन्थाः प्रसिद्धः। अतस्तेऽप्यरण्यवासिभिः-सह गमिष्यन्ति। उपकुर्वाणका-स्तु स्वाध्यायग्रहणार्था इति न विशेषनिर्देशार्हाः।

ननूर्ध्वरेतस्त्वं चेदुत्तरमार्ग-प्रतिपत्तिकारणं पुराणस्मृति-प्रामाण्यादिष्यत इत्थं वित्त्व-मनर्थकं प्राप्तम्।

न; गृहस्थान्प्रत्यर्थवत्त्वात्। ये गृहस्था अनित्थंविदस्तेषां स्वभावतो दक्षिणो धूमादिः पन्थाः प्रसिद्धस्तेषां य इत्थं विदुः सगुणं वान्यद् ब्रह्मविदुः, "अथ यदु चैवास्मिञ्शव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेव" इति लिङ्गादुत्तरेण ते गच्छन्ति।

शङ्का—जिनका ग्रामश्रुति और अरण्यश्रुति दोनोंहीसे ग्रहण नहीं होता वे ब्रह्मचारी लोग भी तो रह जाते हैं; फिर तुम्हारे परिशेषकी सिद्धि कैसे हो सकती है?

**समाधान**—यह कोई दोष नहीं है, पुराण और स्मृतियोंसे ऊर्ध्वरेता नैष्ठिक ब्रह्मचारियोंका सूर्यसम्बन्धी उत्तरमार्ग प्रसिद्ध है, अतः वे भी अरण्यवासियोंके साथ ही जायँगे। तथा उपकुर्वाणक ब्रह्मचारी तो स्वाध्यायग्रहणके लिये होते हैं; अतः वे विशेष निर्देशके योग्य नहीं हैं।

शङ्का—यदि पुराण और स्मृतियोंकी प्रमाणतासे उत्तरायणकी प्राप्तिका कारण ऊर्ध्वरेता होना माना जाता है तब तो इस प्रकार पञ्चाग्निविद्याका ज्ञान व्यर्थ सिद्ध होता है?

**समाधान**—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि गृहस्थोंके लिये वह सार्थक है। जो गृहस्थ ऐसा जाननेवाले नहीं हैं उनके लिये स्वभावतः धूमादि दक्षिणमार्ग प्रसिद्ध है; किंतु उनमें जो ऐसा जाननेवाले हैं अथवा जो इनसे भिन्न सगुणब्रह्मके उपासक हैं वे (छा० ४। १५। ५ के) "इस (सगुण ब्रह्मोपासक)-के लिये प्रेतकर्म करें अथवा न करें वह अर्चिरादि मार्गको ही प्राप्त होता है" इस श्रुतिरूप लिङ्गके अनुसार उत्तरमार्गसे ही जाते हैं।

ननूर्ध्वरेतसां गृहस्थानां च समान आश्रमित्वे ऊर्ध्वरेतसामेवोत्तरेण पथा गमनं न गृहस्थानामिति न युक्तमग्निहोत्रादिवैदिककर्मबाहुल्ये च सति।

नैष दोषः, अपूता हि ते। शत्रुमित्रसंयोगनिमित्तं हि तेषां रागद्वेषौ तथा धर्माधर्मौ हिंसानुग्रहनिमित्तौ। हिंसानृतमायाब्रह्मचर्यादि च बहुशुद्धिकारणमपरिहार्यं तेषाम्, अतोऽपूताः। अपूतत्वान्नोत्तरेण पथा गमनम्। हिंसानृतमायाब्रह्मचर्यादिपरिहाराच्च शुद्धात्मानो हीतरे शत्रुमित्ररागद्वेषादिपरिहाराच्च विरजसस्तेषां युक्त उत्तरः पन्थाः।

ऊर्ध्वरेतसां वनौकसां च उत्तरमार्ग एव

तथा च पौराणिकाः "ये प्रजामीषिरेऽधीरास्ते श्मशानानि भेजिरे। ये प्रजां नेषिरे धीरास्तेऽमृतत्वं हि भेजिरे" इत्याहुः।

शङ्का—ऊर्ध्वरेता और गृहस्थ—ये दोनों आश्रमी होनेमें समान ही हैं। अतः उनमें केवल ऊर्ध्वरेताओंका ही उत्तरायणमार्गसे गमन होता है, गृहस्थोंका अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मोंकी बहुलता होनेपर भी नहीं होता—यह ठीक नहीं है।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि वे अपवित्र होते हैं। शत्रु और मित्रोंका संयोग रहनेके कारण उनमें राग-द्वेष रहते हैं तथा हिंसा और कृपाके कारण धर्माधर्म भी रहते ही हैं। उनके लिये हिंसा, अनृत, कपट और अब्रह्मचर्य आदि बहुत-से अशुद्धिके कारण अनिवार्य ही हैं; इसलिये वे अपवित्र हैं। अपवित्र होनेके कारण उनका उत्तरमार्गसे गमन नहीं हो सकता। किंतु दूसरे वानप्रस्थादि हिंसा, अनृत, माया और अब्रह्मचर्यका त्याग कर देनेके कारण शुद्धचित्त हो जाते हैं, शत्रु-मित्रसम्बन्धी भाव और राग-द्वेषका त्याग कर देनेसे वे मलहीन हो जाते हैं; अतः उनके लिये उत्तरमार्ग ठीक ही है।

तथा पौराणिक लोग भी ऐसा कहते हैं कि "जिन मन्दमति पुरुषोंने संतानकी इच्छा की वे श्मशानको ही प्राप्त हुए, किंतु जिन बुद्धिमानोंने संतानकी इच्छा नहीं की वे अमरत्वको ही प्राप्त हुए"।

इत्थंविदां गृहस्थानामरण्यवासिनां च समानमार्गत्वेऽमृतत्वफले च सत्यरण्यवासिनां विद्यानर्थक्यं प्राप्तम्। तथा च श्रुतिविरोधः "न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः" इति "स एनमविदितो न भुनक्ति" इति च विरुद्धम्।

न; आभूतसंप्लवस्थानस्यामृतत्वेन विवक्षितत्वात्। तत्रैवोक्तं पौराणिकैः—"आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते" इति। यच्चात्यन्तिकममृतत्वम्, तदपेक्षया "न तत्र दक्षिणा यन्ति" "स एनमविदितो न भुनक्ति" इत्याद्याः श्रुतयः, इत्यतो न विरोधः।

"न च पुनरावर्तन्ते" इति "इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते" (छा० उ० ४।१५।५) इत्यादिश्रुतिविरोध इति चेत्।

न; 'इमं मानवम्' इति विशेषणात् "तेषामिह न पुनरावृत्ति-

**शङ्का**—इस प्रकार जाननेवाले गृहस्थ और वनवासियोंको समानमार्ग और अमृतत्वरूप फल प्राप्त होनेपर तो वनवासियोंके ज्ञानकी व्यर्थता सिद्ध होती है और ऐसा होनेसे "वहाँ दक्षिणमार्गी और अज्ञानी तपस्वी नहीं जाते" इस श्रुतिसे विरोध आता है तथा "अपना ज्ञान न होनेपर वह (परमात्मा) इस जीवका [मोक्षदानद्वारा] पालन नहीं करता" यह कथन भी विपरीत हो जाता है।

**समाधान**—नहीं, क्योंकि यहाँ अमृतत्वसे भूतोंके प्रलयपर्यन्त रहना ही अभिप्रेत है। इसी सम्बन्धमें पौराणिकोंने कहा है कि "भूतोंके प्रलयपर्यन्त रहना अमृतत्व ही कहलाता है।" किंतु जो आत्यन्तिक अमृतत्व है उसकी अपेक्षासे "वहाँ दक्षिणमार्गी नहीं जाते" "अपना ज्ञान न होनेपर वह (परमात्मा) इस जीवका [मोक्षप्रदानद्वारा] पालन नहीं करता" इत्यादि श्रुतियाँ हैं; अतः इससे कोई विरोध नहीं है।

**शङ्का**—किंतु [ऐसा मानें तो] "वे फिर नहीं लौटते" "इस मानव आवर्त्तमें फिर नहीं आते" इत्यादि श्रुतिसे विरोध आता है।

**समाधान**—ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि 'इमं मानवम्' ऐसा विशेषण है, तथा यह भी कहा गया है कि

रस्ति'' इति च। यदि ह्येकान्तेनैवनावर्तेरन्निमं मानवमिहेति च विशेषणमनर्थकं स्यात्। इममिहेत्याकृतिमात्रमुच्यत इति चेत्, न; अनावृत्तिशब्देनैव नित्यानावृत्त्यर्थस्य प्रतीतत्वादाकृतिकल्पनानर्थिका। अत इममिहेति च विशेषणार्थवत्त्वायान्यत्रावृत्तिः कल्पनीया।

''उनकी यहाँ पुनरावृत्ति नहीं होती''। यदि उनकी सर्वथा पुनरावृत्ति न होती तो 'इमं मानवम्' तथा 'इह'—ये विशेषण व्यर्थ हो जाते। यदि कहो कि 'इमम्' और 'इह' इन शब्दोंसे आकृतिमात्र बतलायी गयी है [अर्थात् किसी देशकालविशेषका नियम न करके उसके नित्य मोक्षका प्रतिपादन किया गया है]—तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि नित्य अनावृत्तिरूप अर्थकी प्रतीति तो 'अनावृत्ति' शब्दसे ही हो जाती है; अतः उसमें आकृतिकी कल्पना निरर्थक ही है। इसलिये 'इमम्' और 'इह' इन विशेषणोंकी सार्थकताके लिये उसकी अन्यत्र आवृत्ति माननी चाहिये।*

न च 'सदेकमेवाद्वितीयम्' आत्मविदोऽनुत्क्रान्ति-इत्येवं प्रत्ययवतां निरूपणम् मूर्धन्यनाड्यार्चिरादिमार्गेण गमनम्, ''ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति'' (बृ० उ० ४। ४। ६)। ''तस्मात्तत्सर्वमभवत्''

इसके सिवा जिनका ऐसा अनुभव है कि ''एकमात्र अद्वितीय सत् ही है'' उनका शीर्षस्थानीय नाडीद्वारा अर्चिरादि मार्गसे गमन भी नहीं होता; जैसा कि ''वह ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है''

---

* अर्चिमार्गसे जानेवाले पुरुषकी इस लोकमें तो आवृत्ति नहीं होती; किंतु ब्रह्मलोकमें ही ऐसे कई लोक हैं जिनमें वह अपने तपके प्रभावसे जाता है। महः, जनः, तपः और सत्य—ये चारों ही लोक ब्रह्मलोकके अन्तर्गत हैं। साधक अपनी साधनाके प्रभावसे इनमेंसे किसी एक लोकमें जाता है और फिर वहाँसे ज्ञानद्वारा उत्तरोत्तर लोकमें जाता हुआ सत्यलोकमें पहुँचकर मुक्त हो जाता है। यह लोकान्तरगमन ही उसकी अन्यत्र आवृत्ति है।

(बृ० उ० १। ४। १०)। "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति। अत्रैव समवलीयन्ते" (बृ० उ० ४। ४। ६) इत्यादि श्रुतिशतेभ्यः।

ननु तस्माज्जीवादुच्चिक्रमिषोः प्राणा नोत्क्रामन्ति सहैव गच्छन्तीत्ययमर्थः कल्प्यत इति चेत्?

न; 'अत्रैव समवलीयन्ते' इति विशेषणानर्थक्यात्, "सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति" (बृ० उ० ४। ४। २) इति च प्राणैर्गमनस्य प्राप्तत्वात्। तस्मादुत्क्रामन्तीत्यनाशङ्क्यैवैषा।

यदापि मोक्षस्य संसारगतिवैलक्षण्यात्प्राणानां जीवेन सहागमनमाशङ्क्य तस्मान्नोत्क्रामन्तीत्युच्यते, तदाप्यत्रैव समवलीयन्त इति विशेषणमनर्थकं स्यात्। न च प्राणैर्वियुक्तस्य गतिरुपपद्यते जीवत्वं वा। सर्वगतत्वात्सदात्मनो निरवयवत्वात्

"इसीसे यह सब कुछ हो गया" "उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते, यहीं लीन हो जाते हैं" इत्यादि सैकड़ों श्रुतियोंसे प्रमाणित होता है।

**शङ्का**—यदि इस श्रुतिका ऐसा अर्थ माना जाय कि उत्क्रमण करनेकी इच्छावाले उस जीवके पाससे प्राण उत्क्रमण नहीं करते, बल्कि उसके साथ ही जाते हैं, तो?

**समाधान**—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे 'यहीं लीन हो जाते हैं' यह विशेषण व्यर्थ हो जायगा। तथा इसके सिवा "सब प्राण उसका अनुगमन करते हैं" इस श्रुतिसे प्राणोंके सहित जीवका गमन सिद्ध भी होता है। अतः 'प्राण उत्क्रमण करते हैं' इस विषयमें कोई शङ्का नहीं हो सकती।

इसके सिवा संसारगतिसे मोक्षकी विलक्षणता होनेके कारण जब कि जीवके साथ प्राणोंके न जानेकी आशङ्का करके ऐसा कहा जाता है कि वे उससे उत्क्रमण ही नहीं करते [अर्थात् जीव प्राणोंके बिना ही चला जाता है] तो उस समय भी 'वे यहीं लीन हो जाते हैं' यह विशेषण व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि प्राणोंसे वियुक्त हुए प्राणीकी गति अथवा जीवत्व सम्भव ही नहीं है। क्योंकि सदात्मा तो सर्वगत और

प्राणसंबन्धमात्रमेव ह्यग्निविस्फुलिङ्गव-ज्जीवत्वभेदकारणमित्यतस्तद्वियोगे जीवत्वं गतिर्वा न शक्या परिकल्पयितुं श्रुतय-श्चेत्प्रमाणम्।

न च सतोऽणुरवयवः स्फुटितो जीवाख्यः सद्रूपं छिद्रीकुर्वन् गच्छतीति शक्यं कल्पयितुम्। तस्मात् "तयोर्ध्वमायन्नमृतत्व-मेति" इति सगुणब्रह्मोपासकस्य प्राणैः सह नाड्या गमनम्, सापेक्षमेव चामृतत्वम्, न साक्षान्मोक्ष इति गम्यते; "तदपराजिता पूस्तदैरं मदीयं सरः" इत्याद्युक्त्वा "तेषामेवैष ब्रह्मलोकः" इति विशेषणात्।

अतः पञ्चाग्निविदो गृहस्था ये चेमेऽरण्ये वानप्रस्थाः परिव्राजकाश्च सह नैष्ठिकब्रह्मचारिभिः श्रद्धा तप इत्येवमाद्यु-पासते श्रद्दधानास्तपस्विनश्चेत्यर्थः।

निरवयव है; प्राणसे सम्बन्ध होना ही अग्निके विस्फुलिङ्गोंके समान जीवभावरूप भेदका कारण है। अतः यदि श्रुतिको प्रमाण माना जाय तो प्राणोंका वियोग हो जानेपर चिदात्माके जीवत्व अथवा गतिकी कल्पना नहीं की जा सकती।

इसके सिवा ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती कि सदात्माका उससे अलग हुआ अणुमात्र अवयव जीवसंज्ञक है और वह सदात्माको छिद्रयुक्त करता हुआ जाता है। अतः "उस मूर्धन्य नाडीसे ऊपरकी ओर जाता हुआ वह अमरत्वको प्राप्त होता है" इस प्रकार सगुण ब्रह्मोपासकका प्राणोंके साथ मूर्धन्य नाडीसे जाना सापेक्ष अमृतत्व ही है, साक्षात् मोक्ष नहीं है—यह जाना जाता है; क्योंकि श्रुतिने "वह अपराजिता पुरी है, वह हर्षोत्पादक सरोवर है" ऐसा कहकर "उन [सगुण ब्रह्मोपासकों] को ही यह ब्रह्मलोक मिलता है"—ऐसा विशेषण दिया है।

अतः पञ्चाग्निवेत्ता गृहस्थ और जो ये वनवासी—नैष्ठिक ब्रह्मचारियोंके सहित वानप्रस्थ और संन्यासी 'श्रद्धा और तप' इत्यादिकी उपासना करते हैं अर्थात् श्रद्धालु एवं तपस्वी हैं।

उपासनशब्दस्तात्पर्यार्थः, ''इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते'' इति यद्वत्। श्रुत्यन्तराद्ये च सत्यं ब्रह्म हिरण्यगर्भाख्यमुपासते ते सर्वेऽर्चिषमर्चिरभिमानिनीं देवतामभिसंभवन्ति प्रतिपद्यन्ते समानमन्यच्चतुर्थगतिव्याख्यानेन। एष देवयानः पन्था व्याख्यातः सत्यलोकावसानः, नाण्डाद्बहिः, ''यदन्तरा पितरं मातरं च'' (बृ० उ० ६। २। २) इति मन्त्रवर्णात्॥ १-२॥

जैसा कि ''इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते'' इस श्रुतिमें है उसीके समान यहाँ 'उपासन' शब्द तत्परताके अर्थमें है। तथा एक अन्य श्रुतिके अनुसार जो हिरण्यगर्भसंज्ञक सत्यब्रह्मकी उपासना करते हैं वे सब अर्चि यानी अर्चिके अभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं। शेष सब चतुर्थ अध्यायके अन्तर्गत [उपकोसल विद्यामें (छा० ४। १५। ५ में) बतलायी हुई] गतिकी व्याख्याके समान है। यह सत्यलोकमें समाप्त होनेवाले देवयानमार्गकी व्याख्या की गयी; इस मार्गकी ब्रह्माण्डसे बाहर गति नहीं है; जैसा कि जो ''पिता (द्युलोक) और माता (पृथिवी) के बीचमें है'' इस मन्त्रसे सिद्ध होता है॥ १-२॥

*तृतीय प्रश्नका उत्तर*

(देवयान और धूमयानका व्यावर्तनस्थान)

**अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिꣳरात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्षड् दक्षिणैति मासाꣳस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति॥ ३॥**

तथा जो ये गृहस्थलोग ग्राममें इष्ट, पूर्त और दत्त—ऐसी उपासना करते हैं वे धूमको प्राप्त होते हैं; धूमसे रात्रिको, रात्रिसे कृष्णपक्षको तथा कृष्णपक्षसे जिन छः महीनोंमें सूर्य दक्षिणमार्गसे जाता है उनको प्राप्त होते हैं। ये लोग संवत्सरको प्राप्त नहीं होते॥ ३॥

अथेत्यर्थान्तरप्रस्तावनाथः, य इमे गृहस्था ग्रामे, ग्राम इति गृहस्थानामसाधारणं विशेषणमरण्यवासिभ्यो व्यावृत्त्यर्थम्, यथा; वानप्रस्थपरिव्राजकानामरण्यं विशेषणं गृहस्थेभ्यो व्यावृत्त्यर्थम्, तद्वत्; इष्टापूर्ते इष्टमग्निहोत्रादि वैदिकं कर्म, पूर्तं वापीकूपतडागारामादिकरणम्; दत्तं बहिर्वेदि यथाशक्त्यर्हेभ्यो द्रव्यसंविभागो दत्तम्; इत्येवंविधं परिचरणपरित्राणाद्युपासते, इतिशब्दस्य प्रकारदर्शनार्थत्वात्। ते दर्शनवर्जितत्वाद्धूमं धूमाभिमानिनीं देवतामभिसंभवन्ति प्रतिपद्यन्ते।

तयातिवाहिता धूमाद्रात्रिं रात्रिदेवतां रात्रेरपरपक्षदेवतामेव कृष्णपक्षाभिमानिनीमपरपक्षाद्यान्षण्मासान्दक्षिणा दक्षिणां दिशमेति सविता, तान्मासान्दक्षिणायनषण्मासाभिमानिनी-

'अथ' यह शब्द दूसरे विषयकी प्रस्तावनाके लिये है, जो ये गृहस्थगण ग्राममें—जिस प्रकार 'अरण्यम्' यह वानप्रस्थ और परिव्राजकोंका गृहस्थोंसे व्यावृत्ति करनेके लिये असाधारण विशेषण था, उसी प्रकार 'ग्रामे' यह वनवासियोंसे व्यावृत्ति करनेके लिये गृहस्थोंका असाधारण विशेषण है। 'इष्टापूर्ते'—अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मको 'इष्ट' कहते हैं तथा वापी, कूप, तड़ाग एवं बगीचे आदि लगवानेका नाम पूर्त है; और वेदीसे बाहर दानपात्र व्यक्तियोंको यथाशक्ति धन देना 'दत्त' कहलाता है। इस प्रकार जो परिचर्या (गुरुशुश्रूषा) एवं परित्राण (धर्मरक्षा) आदिका तत्परतापूर्वक सेवन करते हैं—क्योंकि यहाँ 'इति' शब्द अनुष्ठानका प्रकार प्रदर्शित करनेके लिये है—वे उपासनाशून्य होनेके कारण धूम—धूमाभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं।

उस धूमाभिमानी देवतासे अतिवाहित (आगे ले जाये जाते) हुए वे धूमसे रात्रिको—रात्रिदेवताको, रात्रिसे अपरपक्ष यानी कृष्णपक्षसे जिन छः महीनोंमें सूर्य दक्षिण दिशाकी ओर होकर चलता है उन महीनोंको अर्थात् दक्षिणायनके छः महीनोंके अभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं—ऐसा

देवताः प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः। संघचारिण्यो हि षण्मासदेवता इति मासानिति बहुवचनप्रयोगस्तासु। नैते कर्मिणः प्रकृता संवत्सरं संवत्सराभिमानिनीं देवतामभिप्राप्नुवन्ति।

कुतः पुनः संवत्सरप्राप्ति-प्रसङ्गो यतः प्रतिषिध्यते?

अस्ति हि प्रसङ्गः, संवत्सरस्य ह्येकस्यावयवभूते दक्षिणोत्तरायणे, तत्रार्चिरादिमार्गप्रवृत्ताना-मुदगयनमासेभ्योऽवयविनः संवत्सरस्य प्राप्तिरुक्ता। अत इहापि तदवयवभूतानां दक्षिणायन-मासानां प्राप्तिं श्रुत्वा तदवयविनः संवत्सरस्यापि पूर्ववत्प्राप्तिरापन्नाः; इत्यतस्तत्प्राप्तिः प्रतिषिध्यते नैते संवत्सर-मभिप्राप्नुवन्तीति॥ ३॥

इसका तात्पर्य है। ये षण्मासाभिमानी देवता एक संघमें रहनेवाले हैं; इसलिये उनके लिये 'मासान्' ऐसा बहुवचनका प्रयोग किया गया है। यहाँ जिनका प्रकरण है, वे ये कर्म-काण्डी संवत्सरको—संवत्सराभिमानी देवताको प्राप्त नहीं होते।

**शङ्का**—किंतु यहाँ संवत्सरप्राप्ति-का प्रसङ्ग ही कहाँ था जो प्रतिषेध किया गया?

**समाधान**—हाँ, प्रसङ्ग है; दक्षिणायन और उत्तरायण—ये एक ही संवत्सरके दो अवयव हैं, उनमें अर्चि आदि मार्गसे जानेवाले पुरुषोंकी उत्तरायणके महीनोंसे अपने अवयवी संवत्सरकी प्राप्ति बतलायी गयी थी। इसलिये यहाँ भी उससे अवयवभूत दक्षिणायनसे महीनोंकी प्राप्ति सुनकर पूर्ववत् उनके अवयवी संवत्सरकी भी प्राप्ति हो जाती है, इसीसे 'वे संवत्सरको प्राप्त नहीं होते'—ऐसा कहकर उसकी प्राप्तिका प्रतिषेध किया जाता है॥ ३॥

**मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशा-च्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति॥ ४॥**

दक्षिणायनके महीनोंसे पितृलोकको, पितृलोकसे आकाशको और

आकाशसे चन्द्रमाको प्राप्त होते हैं। यह चन्द्रमा राजा सोम है। वह देवताओंका अन्न है, देवतालोग उसका भक्षण करते हैं॥ ४॥

**मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसम्। कोऽसौ यस्तैः प्राप्यते चन्द्रमाः? य एष दृश्यतेऽन्तरिक्षे सोमो राजा ब्राह्मणानाम्, तदन्नं देवानाम्, तं चन्द्रमसमन्नं देवा इन्द्रादयो भक्षयन्ति। अतस्ते भूमादिना गत्वा चन्द्रभूताः कर्मिणो देवैर्भक्ष्यन्ते।**

वे दक्षिणायनके महीनोंसे पितृलोकको, पितृलोकसे आकाशको और आकाशसे चन्द्रमाको प्राप्त होते हैं। उनके द्वारा जो प्राप्त किया जाता है वह यह चन्द्रमा कौन है? यह जो आकाशमें दिखायी देता है तथा जो सोम ब्राह्मणोंका राजा है, वह देवताओंका अन्न है; उस चन्द्रमारूप अन्नको इन्द्रादि देवता भक्षण करते हैं। अतः धूमादि मार्गसे जाकर चन्द्रमारूप हुए वे कर्मी देवताओंसे भक्षित होते हैं।

**नन्वनर्थायेष्टादिकरणं यद्यन्नभूता देवैर्भक्ष्येरन्।**

शङ्का—यदि वे अन्नरूप होकर देवताओंद्वारा भक्षित होते हैं तो इष्टादि कर्मोंका करना अनर्थके ही लिये है?

**नैष दोषः—अन्नमित्युपकरणमात्रस्य विवक्षितत्वात्; न हि ते कवलोत्क्षेपेण देवैर्भक्ष्यन्ते, किं तर्हि? उपकरणमात्रं देवानां भवन्ति ते स्त्रीपशुभृत्यादिवत्। दृष्टश्चान्नशब्द उपकरणेषु स्त्रियोऽन्नं पशवोऽन्नं विशोऽन्नं राज्ञा-**

समाधान—यह दोष नहीं है, क्योंकि 'अन्न' इस शब्दसे केवल उपभोगकी सामग्री ही विवक्षित है। वे देवताओंद्वारा ग्रासकी तरह उठाकर नहीं खाये जाते, तो फिर क्या होता है? वे स्त्री, पशु एवं सेवकादिके समान देवताओंके केवल उपकरणमात्र होते हैं। 'अन्न' शब्दका उपकरणोंमें भी प्रयोग देखा ही जाता है; जैसे 'राजाओंका स्त्रियाँ अन्न हैं, पशु अन्न हैं, वैश्य अन्न हैं' इत्यादि।

मित्यादि। न च तेषां स्त्र्यादीनां पुरुषोपभोग्यत्वेऽप्युपभोगो नास्ति। तस्मात्कर्मिणो देवानामुपभोग्या अपि सन्तः सुखिनो देवैः क्रीडन्ति। शरीरं च तेषां सुखोपभोगयोग्यं चन्द्रमण्डल आप्यमारभ्यते। तदुक्तं पुरस्तात्—श्रद्धाशब्दा आपो द्युलोकाग्नौ हुताः सोमो राजा संभवतीति।

ता आपः कर्मसमवायिन्य इतरैश्च भूतैरनुगता द्युलोकं प्राप्य चन्द्रत्वमापन्नाः शरीरारम्भिका इष्टाद्युपासकानां भवन्ति। अन्त्यायां च शरीराहुतावग्नौ हुतायामग्निना दह्यमाने शरीरे तदुत्था आपो धूमेन सहोर्ध्वं यजमानमावेष्ट्य चन्द्रमण्डलं प्राप्य कुशमृत्तिकास्थानीया बाह्याशरीरारम्भिका भवन्ति। तदारब्धेन च शरीरेणेष्टादिफलमुपभुञ्जाना आस्ते॥ ४॥

पुरुषके उपभोग्य होनेपर भी उन स्त्री आदिको उपभोग प्राप्त न होते हों—ऐसी बात नहीं है। अतः कर्मी लोग देवताओंके उपभोग्य होनेपर भी सुखी होकर देवताओंके साथ क्रीडा करते हैं। तथा उनका सुखोपभोगयोग्य जलीय शरीर चन्द्रमण्डलमें आरम्भ होता है। पहले यह बात कही भी जा चुकी है कि 'श्रद्धा' शब्दवाच्य जलका द्युलोकरूप अग्निमें हवन किये जानेपर सोम राजाकी उत्पत्ति होती है।

वह कर्मसम्बन्धी जल अन्य भूतोंसे अनुगत हो द्युलोकमें पहुँचकर चन्द्रभावको प्राप्त हो इष्टादि कर्मोंकी उपासना करनेवाले पुरुषोंके शरीरादिका आरम्भ करनेवाला होता है। फिर शरीररूप अन्तिम आहुतिके हुत होनेपर जब अग्निद्वारा शरीर दग्ध होने लगता है तो उससे उत्पन्न होनेवाला जल धूमके साथ यजमानको आच्छादित कर ऊपर चन्द्रमण्डलमें पहुँचकर कुश एवं मृत्तिकास्थानीय बाह्य शरीरका आरम्भ करनेवाला होता है। उससे आरम्भ हुए शरीरसे ही वे इष्टादि कर्मोंका फल भोगते हुए वहाँ रहते हैं॥ ४॥

*द्वितीय प्रश्नका उत्तर*

**( पुनरावर्तनका क्रम )**

**तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथैतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाभ्रं भवति॥५॥**

वहाँ कर्मोंका क्षय होनेतक रहकर वे फिर इसी मार्गसे जिस प्रकार गये थे उसी प्रकार लौटते हैं। [वे पहले] आकाशको प्राप्त होते हैं और आकाशसे वायुको, वायु होकर वे धूम होते हैं और धूम होकर अभ्र होते हैं॥५॥

**यावत्तदुपभोगनिमित्तस्य कर्मणः क्षयः, संपतन्ति येनेति संपातः कर्मणः क्षयो यावत्संपातं यावत्कर्मणः क्षय इत्यर्थः; तावत्तस्मिंश्चन्द्रमण्डल उषित्वाथानन्तरमेतमेव वक्ष्यमाणमध्वानं मार्गं पुनर्निवर्तन्ते। पुनर्निवर्तन्त इति प्रयोगात्पूर्वमप्यसकृच्चन्द्रमण्डलं गता निवृत्ताश्चासन्निति गम्यते। तस्मादिह लोकं इष्टादिकर्मोपचित्य चन्द्रं गच्छन्ति, तत्क्षये चावर्तन्ते; क्षणमात्रमपि तत्र स्थातुं न लभ्यते, स्थितिनिमित्तकर्मक्षयात्, स्नेहक्षयादिव प्रदीपस्य।**

जबतक उस चन्द्रलोकके उपभोगोंके निमित्तभूत कर्मका क्षय होता है—जिसके द्वारा सम्पतन होता है उसे सम्पात अर्थात् कर्मका क्षय कहते हैं, यावत्सम्पात अर्थात् जबतक कर्मका क्षय होता है तबतक उस चन्द्रमण्डलमें निवासकर उसके पश्चात् इस आगे कहे जानेवाले मार्गमें ही फिर लौट आते हैं। 'पुनर्निवर्तन्ते' (फिर लौट आते हैं) ऐसा प्रयोग होनेसे यह जाना जाता है कि पहले भी कई बार चन्द्रमण्डलको प्राप्त होकर लौट चुके हैं; अतः वे इस लोकमें इष्टादि कर्म करके चन्द्रमण्डलको प्राप्त होते हैं; तथा उनका क्षय होनेपर फिर लौट आते हैं। उस समय वहाँकी स्थितिके निमित्तभूत कर्मोंका क्षय हो जानेके कारण उस स्थानपर उनका एक क्षण भी ठहरना नहीं हो सकता, जिस प्रकार कि तैलका क्षय हो जानेपर दीपक नहीं ठहर सकता।

कर्मक्षयस्य सावशेषत्वं निरवशेषत्वं वा?

**तत्र किं येन कर्मणा चन्द्रमण्डलमारूढस्तस्य सर्वस्य क्षये तस्मादवरोहति किं वा सावशेष इति।**

**किं ततः?**

**यदि सर्वस्यैव क्षयः कर्मणश्चन्द्रमण्डलस्थस्यैव मोक्षः प्राप्नोति, तिष्ठतु तावत्तत्रैव मोक्षः स्यान्न वेति, तत आगतस्येहं शरीरोपभोगादि न संभवति। ततः शेषेणेत्यादिस्मृतिविरोधश्च स्यात्।**

**नन्विष्टापूर्तदत्तव्यतिरेकेणापि मनुष्यलोके शरीरोपभोगनिमित्तानि कर्माण्यनेकानि संभवन्ति, न च तेषां चन्द्रमण्डल उपभोगः, अतोऽक्षीणानि तानि। यन्निमित्तं चन्द्रमण्डलमारूढस्तान्येव क्षीणानीत्यविरोधः।**

**पूर्व०**—जिस कर्मके द्वारा वह चन्द्रमण्डलपर आरूढ होता है क्या उस सबका क्षय होनेपर वह उससे उतरता है अथवा कुछ शेष रह जानेपर ही उतर आता है?

**सिद्धान्ती**—इससे तुम्हें क्या लेना है?

**पूर्व०**—यदि सारे ही कर्मका क्षय हो जाता है तो चन्द्रमण्डलमें रहते हुए ही उसका मोक्ष सिद्ध हो जाता है, और 'वहाँ रहते हुए ही मोक्ष होता है या नहीं होता' इस विचारको रहने भी दिया जाय तो भी वहाँसे आनेपर इस लोकमें उसके शरीरोपभोग आदि सम्भव नहीं हो सकते तथा 'ततः शेषेण' (भुक्तावशेष कर्मोंसे जन्म लेता है) इत्यादि स्मृतिसे भी विरोध होता है।

**सिद्धान्ती**—इस मनुष्यलोकमें इष्ट, पूर्त्त और दत्त—इन कर्मोंसे भिन्न और भी अनेकों शरीरोपभोगके निमित्तभूत कर्म हो सकते हैं; उनका चन्द्रमण्डलमें फलोपभोग भी नहीं होता, इसलिये वे अक्षीण ही रहते हैं। जिन कर्मोंके कारण वह चन्द्रमण्डलपर आरूढ़ होता है उन्हींका वहाँ क्षय भी होता है—इस प्रकार इसमें कोई विरोध नहीं है।

शेषशब्दश्च सर्वेषां कर्मत्वसामान्यादविरुद्धः।

अत एव च तत्रैव मोक्षः स्यादिति दोषाभावः; विरुद्धानेकयोन्युपभोगफलानां च कर्मणामेकैकस्य जन्तोरारम्भकत्वसंभवात्। न चैकस्मिञ्जन्मनि सर्वकर्मणां क्षय उपपद्यते, ब्रह्महत्यादेश्चैकैकस्य कर्मणोऽनेकजन्मारम्भकत्वस्मरणात्। स्थावरादिप्राप्तानां चात्यन्तमूढानामुत्कर्षहेतोः कर्मण आरम्भकत्वासंभवात्। गर्भभूतानां च स्रंसमानानां कर्मासंभवे संसारानुपपत्तिः। तस्मान्नैकस्मिञ्जन्मनि सर्वेषां कर्मणामुपभोगः।

यत्तु कैश्चिदुच्यते सर्वकर्माश्रयोपमर्देन प्रायेण कर्मणां जन्मारम्भकत्वम्। तत्र कानिचित्कर्माण्यनारम्भकत्वेनैव तिष्ठन्ति कानिचिज्जन्मारभन्त इति

सब कर्मोंका कर्मत्व समान होनेके कारण [उपर्युक्त स्मृतिमें] 'शेष' शब्दका प्रयोग किया गया है। इसलिये वह भी अविरुद्ध ही है।

इसीलिये 'उसका वहीं मोक्ष हो जाना चाहिये' ऐसा भी दोष नहीं आ सकता, क्योंकि एक-एक जीवके ऐसे कर्मोंका आरम्भकत्व सम्भव हो ही सकता है जिनके फल अनेकों विरुद्ध योनियोंमें भोगे जायँ। एक ही जन्ममें समस्त कर्मोंका क्षय हो जाना सम्भव भी नही है, क्योंकि स्मृतियोंमें 'ब्रह्महत्या आदि एक-एक कर्म अनेक जन्मोंके आरम्भक हैं' ऐसा बतलाया गया है। तथा जो स्थावरादि योनियोंको प्राप्त हुए अत्यन्त मूढ़ जीव हैं उनके उत्कर्षके हेतुभूत कर्मोंका आरम्भकत्व तो असम्भव ही है। [इसके सिवा कोई-कोई ऐसा भी समझने लगेंगे कि] गर्भरूप होकर क्षीण हुए जीवोंके कोई कर्म न होनेके कारण उन्हें संसारकी प्राप्ति होना ही असम्भव है। अतः एक ही जन्ममें समस्त कर्मोंका उपभोग नहीं हो सकता।

कुछ लोगोंका जो ऐसा कथन है कि '[संचित—] कर्म प्रायः सम्पूर्ण [प्रारब्ध] कर्मोंके आश्रय [शरीर] का नाश करके जन्मके आरम्भक होते हैं; उस अवस्थामें कुछ कर्म तो जन्मके अनारम्भकरूपसे ही स्थित रहते हैं और कुछ जन्मका आरम्भ करते हैं—यह

नोपपद्यते; मरणस्य सर्वकर्माभिव्यञ्जकत्वात्स्वगोचराभिव्यञ्जकप्रदीपवदिति। तदसत् सर्वस्य सर्वात्मकत्वाभ्युपगमात्। न हि सर्वस्य सर्वात्मकत्वे देशकालनिमित्तावरुद्धत्वात्सर्वात्मनोपमर्दः कस्यचित्क्वचिदभिव्यक्तिर्वा सर्वात्मनोपपद्यते। तथा कर्मणामपि साश्रयाणां भवेत्।

यथा च पूर्वानुभूतमनुष्यमयूरमर्कटादिजन्माभिसंस्कृता विरुद्धानेकवासना मर्कटत्वप्रापकेन कर्मणा मर्कटजन्मारभमाणेन नोपमृद्यन्ते तथा कर्माण्यप्यन्यजन्मप्राप्तिनिमित्तानि नोपमृद्यन्त इति युक्तम्। यदि हि सर्वाः

बात सम्भव नहीं है, क्योंकि मरण तो अपने विषयके अभिव्यञ्जक दीपकके समान सारे ही कर्मोंका अभिव्यञ्जक है?'—सो उनका यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि [मधुब्राह्मणमें] सबका सर्वात्मकत्व स्वीकार किया गया है*। अतः सबका सर्वात्मकत्व होनेपर देश, काल और निमित्तसे अवरुद्ध होनेके कारण किसी पदार्थका सर्वथा नाश अथवा सर्वथा अभिव्यक्ति कभी नहीं हो सकती। ऐसा ही कर्म और उनके आश्रयके विषयमें भी होगा [अर्थात् उनका भी सर्वथा नाश अथवा सर्वथा आविर्भाव नहीं हो सकता]।

जिस प्रकार पहले अनुभव किये हुए मनुष्य, मयूर एवं वानर आदि जन्मोंमें सम्पादित की हुई अनेकों विरुद्ध वासनाएँ वानरत्वकी प्राप्ति करानेवाले वानरजन्मके आरम्भक कर्मसे क्षीण नहीं होतीं उसी प्रकार अन्य जन्मोंकी प्राप्तिके निमित्तभूत कर्म भी क्षीण नहीं होते—यह ठीक ही है। यदि वानरजन्मके निमित्तभूत कर्मसे

* इसका तात्पर्य यह है कि समस्त पदार्थोंमें न्यूनाधिकरूपसे सभीकी सत्ता रहती है। प्रत्येक पदार्थकी अभिव्यक्ति और विनाशके कारण भी भिन्न-भिन्न हैं। अतः एक व्यक्तिकी मृत्यु किन्हीं-किन्हीं संचित कर्मोंकी अभिव्यञ्जक होनेपर भी सबकी अभिव्यक्ति नहीं कर सकती। इसलिये शेष कर्म अपने उपयुक्त अभिव्यञ्जक निमित्तकी प्राप्तितक फलोन्मुख नहीं होते और न वे आगामी जन्मके आरम्भक ही होते हैं।

पूर्वजन्मानुभववासना उपमृद्नेर-न्मर्कटजन्मनिमित्तेन कर्मणा मर्कटजन्मन्यारब्धे मर्कटस्य जात-मात्रस्य मातुः शाखायाः शाखान्तरगमने मातुरुदरसंलग्नत्वादि-कौशलं न प्राप्नोति, इह जन्मन्यनभ्यस्तत्वात्; न चातीतानन्तरजन्मनि मर्कटत्व-मेवासीत्तस्येति शक्यं वक्तुम्, ''तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च'' (बृ० उ० ४। ४। २) इति श्रुतेः। तस्मा-द्वासनावन्नाशेषकर्मोपमर्द इति शेष-कर्मसंभवः। यत एवं तस्माच्छेषे-णोपभुक्तात्कर्मणः संसार उपपद्यत इति न कश्चिद्विरोधः।

पूर्वजन्मोंके अनुभवकी समस्त वासनाएँ क्षीण हो जातीं तो वानरजन्मका आरम्भ होनेपर तत्काल उत्पन्न हुए वानरको माताके एक शाखासे दूसरी शाखापर जाते समय उसके पेटसे चिपके रहने आदिकी कुशलता प्राप्त न होती; क्योंकि इस जन्ममें तो उसका अभ्यास हुआ नहीं और ऐसा भी कहा नहीं जा सकता कि इसके पूर्ववर्ती जन्ममें भी उसे वानरत्व ही प्राप्त था। ''विद्या और कर्म उसका अनुगमन करते हैं तथा पूर्वजन्मकी वासना भी'' इस श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है। अतः वासनाके समान समस्त कर्मोंका भी क्षय नहीं हो सकता, इसलिये शेष कर्मोंका रहना सम्भव है। क्योंकि ऐसी बात है इसलिये उपभुक्त हुए कर्मोंसे बचे हुए कर्मद्वारा संसारकी प्राप्ति होना उचित ही है—इस प्रकार कोई विरोध नहीं आता।

कोऽसावध्वा यं प्रति निवर्तन्ते? इत्युच्यते—यथेतं यथागतं निवर्तन्ते।

वह कौन मार्ग है जिसके प्रति ये लौटते हैं? इसपर श्रुति यह कहती है कि जिस मार्गसे गये थे उसीसे लौटते हैं।

गमनागमन-क्रमयोर्भेद आक्षेपः

ननु मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाश-माकाशाच्चन्द्रमस-मिति गमनक्रम उक्तो न तथा

शङ्का—गमनका क्रम तो इस प्रकार बतलाया गया था कि मासोंसे पितृलोकको, पितृलोकसे आकाशको और आकाशसे चन्द्रमाको प्राप्त होता है, किंतु निवृत्ति इस प्रकार नहीं बतलायी जाती। तो कैसे बतलायी जाती है?—आकाशसे

निवृत्तिः। किं तर्हि? आकाशाद्वायु-मित्यादि, कथं यथेतमित्युच्यते?

तत्परिहारः

नैष दोषः, आकाशप्राप्तेस्तुल्यत्वात्पृथिवीप्राप्तेश्च। न चात्र यथेतमेवेति नियमोऽनेवंविधमपि निवर्तन्ते पुनर्निवर्तन्त इति तु नियमः। अत उपलक्षणार्थमेतद्यथेतमिति अतो भौतिकमाकाशं तावत्प्रतिपद्यन्ते।

वायुको प्राप्त होता है इत्यादि रूपसे बतलायी जाती है; फिर 'जिस मार्गसे गये थे उसीसे लौटते हैं'—ऐसा कैसे कहा जाता है?

**समाधान**—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि आकाशकी प्राप्ति और पृथिवीकी प्राप्ति ये दोनों दशाओंमें समान हैं। इसके सिवा इसमें ऐसा नियम भी नहीं है कि जिस मार्गसे गये थे उसीसे लौटें, किसी अन्य प्रकार भी लौट ही सकते हैं। नियम तो केवल इतना ही है कि वे फिर लौटते हैं। अतः 'जिस मार्गसे गये थे' इत्यादि कथन केवल उपलक्षणमात्र है। अतः भौतिक आकाशको तो वे प्राप्त होते ही हैं।

यास्तेषां चन्द्रमण्डले शरीरारम्भिका आप आसंस्तास्तेषां तत्रोपभोगनिमित्तानां कर्मणां क्षये विलीयन्ते, घृतसंस्थानमिवाग्निसंयोगे। ता विलीना अन्तरिक्षस्था आकाशभूता इव सूक्ष्मा भवन्ति। ता अन्तरिक्षाद्वायुर्भवन्ति। वायुप्रतिष्ठा वायुभूता इतश्चामुतश्चोह्यमानास्ताभिः सह

चन्द्रमण्डलमें जो उनके शरीरका आरम्भ करनेवाला जल होता है वह वहाँके उपभोगके निमित्तभूत कर्मोंका क्षय होनेपर विलीन हो जाता है, जिस प्रकार कि अग्निका संयोग होनेपर घृतका पिण्ड विलीन हो जाता है। वह अन्तरिक्षस्थ जल विलीन होकर आकाशभूतके समान सूक्ष्म हो जाता है। अन्तरिक्षसे वायुरूप हो जाता है। वह वायुमें स्थित होकर वायुरूप हुआ इधर-उधर ले जाया जाता है तथा उसके ही साथ, जिसके

क्षीणकर्मा वायुभूतो भवति। वायुर्भूत्वा ताभिः सहैव धूमो-भवति। धूमो भूत्वाभ्रम् अब्भरणमात्ररूपो भवति॥ ५॥

कर्म क्षीण हो गये हैं यह जीव वायुरूप हो जाता है। वायु होकर वह उस जलके सहित ही धूम हो जाता है तथा धूम होकर अभ्र-जलभरणमात्ररूप हो जाता है॥५॥

**अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते-ऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति॥ ६॥**

वह अभ्र होकर मेघ होता है, मेघ होकर बरसता है। तब वे जीव इस लोकमें धान, जौ, ओषधि, वनस्पति, तिल और उड़द आदि होकर उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार यह निष्क्रमण निश्चय ही अत्यन्त कष्टप्रद है। उस अन्नको जो-जो भक्षण करता है और जो-जो वीर्यसेचन करता है, तद्रूप ही वह जीव हो जाता है॥ ६॥

अभ्रं भूत्वा ततः सेचन-समर्थो मेघो भवति; मेघो भूत्वोन्नतेषु प्रदेशेष्वथ प्रवर्षति; वर्षधारारूपेण शेषकर्मा पततीत्यर्थः। त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इत्येवंप्रकारा जायन्ते। क्षीणकर्मणामनेकत्वाद्बहुवचन-

अभ्र होकर उसके पश्चात् वह वर्षा करनेमें समर्थ मेघ होता है। फिर मेघ होकर ऊँचे स्थानोंमें वृष्टि करता है अर्थात् कर्मोंके शेष रहनेके कारण वर्षाकी धाराओंके रूपमें गिर जाता है। वे जीव इस लोकमें धान, जौ, ओषधि, वनस्पति, तिल और उड़द इत्यादि प्रकारसे उत्पन्न होते हैं। क्षीणकर्मा जीवोंकी अनेकता होनेके कारण यहाँ ['ते जायन्ते' इत्यादि रूपसे] बहुवचनका निर्देश किया

निर्देशः। मेघादिषु पूर्वेष्वेकरूपत्वादेकवचननिर्देशः।

गया है; इससे पहले मेघ आदिमें एकरूप होनेके कारण एकवचनका निर्देश हुआ है।

यस्माद्गिरितटदुर्गनदीसमुद्रारण्यमरुदेशादिसंनिवेशसहस्राणि वर्षधाराभिः पतितानाम्, अतस्तस्माद्धेतोर्वै खलु दुर्निष्प्रपतरं दुर्निष्करणं दुर्निःसरणम्। यतो गिरितटादुदकस्रोतसोह्यमाना नदीः प्राप्नुवन्ति, ततः समुद्रं ततो मकरादिभिर्भक्ष्यन्ते; तेऽप्यन्येन; तत्रैव च सह मकरेण समुद्रे विलीनाः समुद्राम्भोभिर्जलधरैराकृष्टाः पुनर्वर्षधाराभिर्मरुदेशे शिलातटे वागम्ये पतितास्तिष्ठन्ति, कदाचिद्व्यालमृगादिपीता भक्षिताश्चान्यैः; तेऽप्यन्यैरित्येवंप्रकाराः परिवर्तेरन्, कदाचिदभक्ष्येषु जातास्तत्रैव शुष्येरन्; भक्ष्येष्वपि स्थावरेषु जातानां रेतःसिग्देहसंबन्धो दुर्लभ एव,

क्योंकि वर्षाकी धाराओंद्वारा गिरे हुए जीवोंके पर्वततट, दुर्ग, नदी, समुद्र, वन एवं मरुस्थल आदि सहस्रों स्थान हैं, अतः इन सब कारणोंसे उनका यह दुर्निष्प्रपतर—दुर्निष्क्रमण अर्थात् कष्टमय निःसरण है; क्योंकि जलके प्रवाहद्वारा गिरितटसे ले जाये जाते हुए वे (जीव) नदीको प्राप्त होते हैं और उससे समुद्रको; तथा उसके पश्चात् मकरादिसे खाये जाते हैं और वे भी दूसरोंसे भक्षित होते हैं। तथा वहाँ समुद्रमें ही यदि मकरके साथ लीन हो गये तो समुद्रके जलके साथ मेघोंसे आकर्षित होकर फिर वर्षाकी धाराओंद्वारा मरुभूमि, शिलातट अथवा अगम्य स्थानोंमें गिरकर पड़े रहते हैं; कभी सर्प एवं मृगादिसे पी लिये जाते हैं अथवा अन्य जीवोंद्वारा भक्षित होते हैं और वे भी किन्हीं अन्य जीवोंद्वारा खा लिये जाते हैं [इस प्रकार वे अनुशयी जीव परिवर्तित होते रहते हैं]। कभी अभक्ष्योंमें उत्पन्न होनेपर वे वहीं सूख जाते हैं।* भक्ष्योंमें भी स्थावरोंमें उत्पन्न हुए जीवोंको वीर्यसेचन करनेवाले शरीरका सम्बन्ध प्राप्त होना तो कठिन ही है,

* इन दोनों स्थानोंपर जो जीवके सूखने और नष्ट होनेकी बात कही है, वह वैराग्यवृद्धिके उद्देश्यसे स्वर्गावरोहणकी अतिशय दुःखरूपता प्रदर्शित करनेके लिये है।

बहुत्वात्स्थावराणाम् इत्यतो दुर्निष्क्रमणत्वम्।

अथवातोऽस्माद्व्रीहियवादिभावाद्दुर्निष्प्रपतरं दुर्निर्गमतरम्। दुर्निष्प्रपतरमिति तकार एको लुप्तो द्रष्टव्यः। व्रीहियवादिभावो दुर्निष्प्रपतस्तस्मादपि दुर्निष्प्रपतारेतः सिग्देहसंबन्धो दुर्निष्प्रपततर इत्यर्थः; यस्मादूर्ध्वरेतोभिर्बालैः पुंस्त्वरहितैः स्थविरैर्वा भक्षिता अन्तराले शीर्यन्ते, अनेकत्वादन्नादानाम्। कदाचित्काकतालीयवृत्त्या रेतःसिग्भिर्भक्ष्यन्ते यदा, तदा रेतःसिग्भावं गतानां कर्मणो वृत्तिलाभः।

कथम्? यो यो ह्यन्नमत्त्यनुशयिभिः संश्लिष्टं रेतःसिक्, यश्च रेतः सिञ्चत्यृतुकाले योषिति तद्भूय एवतदाकृतिरेव भवति; तदवयवाकृतिभूयस्त्वं भूय

क्योंकि स्थावरोंकी संख्या बहुत है। इसलिये अनुशयी जीवका निष्क्रमण दुःखमय ही है।

अथवा यों समझो कि इस व्रीहियवादिभावसे जीवका छुटकारा होना बहुत कठिन है। 'दुर्निष्प्रपतरम्' इस पदमें एक तकार लुप्त समझना चाहिये। अतः तात्पर्य यह है कि व्रीहियवादिभाव दुर्निष्प्रपत है और उस दुर्निष्प्रपतसे भी वीर्यसेचन करनेवाले शरीरका सम्बन्ध दुर्निष्प्रपततर है, क्योंकि अन्न भक्षण करनेवाले अनेकों होनेके कारण ऊर्ध्वरेता, बालक, नपुंसक अथवा वृद्ध पुरुषोंद्वारा खाये जानेपर वे पेटके भीतर ही नष्ट हो जाते हैं।* जिस समय काकतालीय-न्यायसे वे कभी वीर्यसेचन करनेवाले पुरुषोंद्वारा भक्षित किये जाते हैं उसी समय वीर्यसेचकरूपताको प्राप्त हुए उन जीवोंको कर्मोंकी वृत्तिका लाभ होता है।

किस प्रकार वृत्तिलाभ होता है?—जो-जो वीर्यसेचक अनुशयी जीवोंसे युक्त अन्न भक्षण करता है और फिर ऋतुकालमें स्त्रीमें वीर्यसेचन करता है वह जीव 'तद्भूय' अर्थात् उसीके आकारका हो जाता है। उसके अवयवोंकी आकृतिकी अधिकता होना 'भूय'

* पृष्ठ-संख्या ४६८ की टिप्पणी देखें।

इत्युच्यते, रेतोरूपेण योषितो गर्भाशयेऽन्तः प्रविष्टोऽनुशयी रेतसो रेतःसिगाकृतिभावितत्वात्, "सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतम्" (ऐ० उ० ४। १) इति हि श्रुत्यन्तरात्। अतो रेतःसिगाकृतिरेव भवतीत्यर्थः। तथा हि—पुरुषात्पुरुषो जायते गोर्गवाकृतिरेव न जात्यन्तराकृतिः, तस्माद्युक्तं तद्भूय एव भवतीति।

ये त्वन्येऽनुशयिभ्यश्चन्द्रमण्डलमनारुह्यैवपापकर्मभिर्घोरैर्व्रीहियवादिभावं प्रतिपद्यन्ते, न पुनर्मनुष्यादिभावम्, तेषां नानुशयिनामिव। दुर्निष्क्रपतरम्। कस्मात्? कर्मणाहि तैर्व्रीहियवादिदेह उपात्त इति तदुपभोगनिमित्तक्षये व्रीह्यादिस्तम्बदेहविनाशे यथाकर्मार्जितं देहान्तरं नवं नवं जलूकावत्संक्रमन्ते

ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार वीर्यरूपसे स्त्रीके गर्भाशयमें प्रविष्ट हुआ जीव 'तद्भूय' हो जाता है' क्योंकि वीर्य वीर्यसेचन करनेवालेकी आकृतिसे भावित होता है, जैसा कि "वीर्य पुरुषके सम्पूर्ण अङ्गोंसे उत्पन्न हुआ तेज होता है" इस अन्य श्रुतिसे प्रमाणित होता है। इसलिये तात्पर्य यह है कि वह वीर्यसेचन करनेवालेकी ही आकृतिका हो जाता है। इसीसे पुरुष-से-पुरुष और बैल-से-बैलके आकारवाला ही प्राणी होता है, अन्य जातिकी आकृतिवाला नहीं होता। अतः वह 'तद्भूय' ही होता है—यह कथन ठीक ही है।

किंतु जो अनुशयी जीवोंसे भिन्न प्राणी अपने घोर पापकर्मोंके कारण चन्द्रमण्डलपर आरूढ हुए बिना ही व्रीहि-यवादि भावको प्राप्त होते हैं, मनुष्यादि भावको प्राप्त नहीं होते, उनका व्रीहि-यवादि भावसे निष्क्रमण होना बहुत कष्टप्रद नहीं है। क्यों नहीं है? क्योंकि उन्होंने कर्मके कारण ही व्रीहि-यवादि देह प्राप्त किया है; अतः उस उपभोगके निमित्तका क्षय होनेपर व्रीहि आदि स्तम्बदेहका नाश हो जानेके कारण वे जान-बूझकर एक तिनकेसे दूसरे तिनकेपर जानेवाली जोंकके समान अपने कर्मानुसार उपार्जित अन्य नवीन-नवीन शरीरमें विज्ञानयुक्त

सविज्ञाना एव; "सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति" (बृ० उ० ४। ४। २) इति श्रुत्यन्तरात्। यद्यप्युपसंहृत-करणाः सन्तो देहान्तरं गच्छन्ति तथापि स्वप्नवद्देहान्तर-प्राप्तिनिमित्तकर्मोद्भावितवासनाज्ञानेन सविज्ञाना एव देहान्तरं गच्छन्ति, श्रुतिप्रामाण्यात्।

तथार्चिरादिना धूमादिना च गमनं स्वप्न इवोद्भूत-विज्ञानेन, लब्धवृत्तिकर्मनिमित्तत्वा-द्गमनस्य। न तथानुशयिनां व्रीह्यादिभावेन जातानां सविज्ञानमेव रेतःसिग्योषिद्देह-संबन्ध उपपद्यते, न हि व्रीह्यादि-लवनकण्डनपेषणादौ च सविज्ञानानां स्थितिरस्ति।

रहकर ही संक्रमण करते हैं; जैसा कि "वह सविज्ञान होता है और सविज्ञान रहता हुआ ही अन्य शरीरमें संक्रमण करता है" इस अन्य श्रुतिसे भी सिद्ध होता है। यद्यपि जीव इन्द्रियोंका उपसंहार (हृदयमें लय) हो जानेपर ही देहान्तरमें जाते हैं, तथापि इस श्रुतिप्रमाणसे वे स्वप्नके समान देहान्तरकी प्राप्तिके निमित्तभूत कर्मसे उत्पन्न की हुई वासनाके विज्ञानसे सविज्ञान हुए ही देहान्तरको प्राप्त होते हैं।

इसी प्रकार उपासकोंका अर्चि आदि मार्गसे और सकाम कर्मियोंका धूम आदि मार्गसे जो गमन होता है वह भी स्वप्नके समान उद्भूतवासनात्मक-विज्ञानसे सविज्ञान हुए जीवोंका ही होता है; क्योंकि वह गमन लब्धवृत्ति (अपना फल देनेके लिये उन्मुख) कर्मके कारण होता है। किंतु व्रीहि-यवादिरूपसे उत्पन्न हुए अनुशयी जीवोंका जो वीर्यका आधान करनेवाले पुरुष अथवा स्त्रीके देहोंसे सम्बन्ध होता है वह उनके सविज्ञान रहते हुए ही हो, यह सम्भव नहीं है; क्योंकि व्रीहि आदिके काटने, कूटने अथवा पीसनेमें सविज्ञान जीवोंकी स्थिति नहीं रह सकती।

ननु चन्द्रमण्डलादप्यवरोहतां देहान्तरगमनस्य तुल्यत्वा-

इष्टापूर्तादि-लब्धगतेर्दुःस्वरूप-त्वाच्छास्त्रानर्थक्य-मित्याक्षेपः

ज्जलूकावत्स-विज्ञानतैव युक्ता, तथा सति घोरो नरकानुभव इष्टापूर्तादिकारिणां चन्द्रमण्डलादारभ्य प्राप्तो यावद्-ब्राह्मणादिजन्म; तथा च सत्यनर्थायैवेष्टापूर्ताद्युपासनं विहितं स्यात्; श्रुतेश्चाप्रामाण्यं प्राप्तम्, वैदिकानां कर्मणामनर्थानुबन्धि-त्वात्।

आक्षेप-परिहारः

न, वृक्षारोहणपतनवद्विशेष-संभवात्। देहा-द्देहान्तरं प्रतिपित्सोः कर्मणो लब्धवृत्तित्वा-त्कर्मणोद्भावितेन विज्ञानेन सविज्ञानत्वं युक्तम्। वृक्षाग्र-मारोहत इव फलं जिघृक्षोः, तथार्चिरादिना गच्छतां सविज्ञानत्वं भवेत्; धूमादिना च चन्द्रमण्डल-मारुरुक्षताम्। न तथा चन्द्र-

शङ्का—चन्द्रमण्डलसे उतरनेवाले जीवोंका देहान्तरगमन भी वैसा ही होनेके कारण उनकी भी जोंकके समान सविज्ञानता ही माननी उचित है। ऐसा होनेपर इष्ट-पूर्त आदि कर्म करनेवालोंको चन्द्रमण्डलसे लेकर जबतक ब्राह्मणादिजन्मकी प्राप्ति होगी तबतक घोर नरकका अनुभव होना सिद्ध होगा। ऐसी अवस्थामें इष्ट-पूर्त आदि उपासना अनर्थके लिये ही विहित मानी जायगी और इस प्रकार वैदिक कर्मके अनर्थकारी होनेके कारण श्रुतिकी अप्रामाणिकता सिद्ध होगी।

**समाधान**—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वृक्षपर चढ़ने और उससे गिरनेके समान इन अवस्थाओंमें अन्तर रहना सम्भव है। एक देहसे दूसरे देहको प्राप्त करानेकी इच्छावाले कर्म लब्धवृत्ति होनेके कारण उन कर्मोंद्वारा उत्पन्न किये हुए विज्ञानसे उस जीवका सविज्ञान रहना उचित है। फल लेनेकी इच्छासे वृक्षपर चढ़नेवाले मनुष्यकी जिस प्रकार सविज्ञानता सम्भव है, इसी प्रकार अर्चिरादि मार्गसे जानेवाले तथा धूमादि मार्गसे चन्द्रमण्डलपर आरूढ होनेवाले जीवोंकी भी सविज्ञानता सम्भव

मण्डलादवरुरुक्षतां वृक्षाग्रादिव पततां सचेतनत्वम्।

है। किंतु इसी तरह वृक्षाग्रसे गिरनेवाले पुरुषोंके समान चन्द्रमण्डलसे गिरनेवालोंकी सचेतनता सम्भव नहीं है।

यथा च मुद्गराद्यभिहतानां तदभिघातवेदनानिमित्तसंमूर्च्छित-प्रतिबद्धकरणानां स्वदेहेनैव देशाद्देशान्तरं नीयमानानां विज्ञानशून्यता दृष्टा, तथा चन्द्रमण्डलान्मानुषादिदेहान्तरं प्रत्यवरुरुक्षतां स्वर्गभोगनिमित्त-कर्मक्षयान्मृदिताब्देहानां प्रतिबद्ध-करणानाम्। अतस्ते-ऽपरित्यक्तदेहबीजभूताभिरद्भिर्मूर्छिता इवाकाशादिक्रमेणेमामवरुह्य कर्म-निमित्तजातिस्थावरदेहैः संश्लिष्यन्ते। प्रतिबद्धकरणतयानुद्भूत-विज्ञाना एव।

जिस प्रकार कि मुद्गरादिसे आहत पुरुष जिनकी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ उनके आघातोंकी वेदनाके कारण मूर्च्छित अथवा प्रतिबद्ध (कुण्ठित) हो गयी हैं, अपने देहसे ही एक स्थानसे दूसरे स्थानपर ले जाते समय विज्ञानशून्य (अचेत) देखे गये हैं, उसी प्रकार स्वर्गभोगके निमित्तभूत कर्मोंका क्षय हो जानेसे जिनके जलीय शरीर नष्ट हो गये हैं तथा सम्पूर्ण इन्द्रियाँ अवरुद्ध हो गयी हैं उन चन्द्रमण्डलसे मनुष्यादि देहान्तरोंके प्रति गिरनेवाले अनुशयी जीवोंकी [विज्ञानशून्यता उचित ही है]। अतः देहके बीजभूत जलके परित्यक्त न होनेसे वे उसके सहित ही मूर्च्छित हुएके समान आकाशादिक्रमसे इस पृथिवीपर उतरकर अपने कर्मानुसार जातिवाले स्थावरशरीरोंमें मिल जाते हैं और इन्द्रियोंके प्रतिबद्ध रहनेके कारण अनुद्भूतविज्ञान (अचेत) ही रहते हैं।

तथा लवनकण्डनपेषणसंस्कार-भक्षणरसादिपरिणामरेतःसेक-कालेषु मूर्छितवदेव, देहान्त-रारम्भकस्य कर्मणोऽलब्ध-

इसी प्रकार वे काटने, कूटने, पीसने, पकाने, खाने, रसादिरूपमें परिणत होने और वीर्यसेचनके समय भी मूर्च्छितसे ही रहते हैं, क्योंकि उनका देहान्तरका आरम्भ करनेवाला कर्म अलब्धवृत्ति रहता है। वे समस्त

वृत्तित्वात्। देहबीजभूताप्संबन्धा-परित्यागेनैव सर्वास्ववस्थासु वर्तन्त इति जलूकावच्चेतनावत्त्वं न विरुध्यते। अन्तराले त्वविज्ञानं मूर्छितवदेवेत्यदोषः।

अवस्थाओंमें देहके बीजभूत जलका सम्बन्ध न छोड़ते हुए ही विद्यमान रहते हैं, अतः जोंकके समान उनके चेतनायुक्त होनेमें भी कोई विरोध नहीं आता। बीचमें जो विज्ञानशून्य दशा रहती है वह मूर्च्छितके समान है; इसलिये उसमें कोई दोष नहीं है।

न च वैदिकानां कर्मणां हिंसायुक्तत्वेनोभयहेतुत्वं शक्यमनुमातुम्, हिंसायाः शास्त्रचोदितत्वात् "अहिंसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः" इति श्रुतेः शास्त्रचोदिताया हिंसाया नाधर्महेतुत्वमभ्युपगम्यते। अभ्युपगतेऽप्यधर्महेतुत्वे मन्त्रैर्विषादिवत्तदपनयोपपत्तेर्न दुःखकार्यारम्भकत्वोपपत्तिर्वैदिकानां कर्मणां मन्त्रेणेव विषभक्षणस्येति॥ ६॥

*अनुशयी जीवोंकी कर्मानुरूप गति*

**तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा॥ ७॥**

उन (अनुशयी जीवों)-में जो अच्छे आचरणवाले होते हैं वे शीघ्र ही उत्तम योनिको प्राप्त होते हैं। वे ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनि प्राप्त करते हैं तथा जो अशुभ आचरणवाले होते हैं वे तत्काल अशुभ योनिको प्राप्त होते हैं। वे कुत्तेकी योनि, सूकरयोनि अथवा चाण्डालयोनि प्राप्त करते हैं॥ ७॥

तत्तत्र तेष्वनुशयिनां य इह लोके रमणीयं शोभनं चरणं शीलं येषां ते रमणीयचरणा रमणीयचरणेनोपलक्षितः शोभनोऽनुशयः पुण्यं कर्म येषां ते रमणीयचरणा उच्यन्ते। क्रौर्यानृतमायावर्जितानां हि शक्य उपलक्षयितुं शुभानुशयसद्भावः। तेनानुशयेन पुण्येन कर्मणा चन्द्रमण्डले भुक्तशेषेणाभ्याशो ह क्षिप्रमेव, यदितिक्रियाविशेषणम्, ते रमणीयां क्रौर्यादिवर्जितां योनिमापद्येरन्प्राप्नुयुर्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रियोनिं वा वैश्ययोनिं वा स्वकर्मानुरूपेण।

तत्—वहाँ उन अनुशयी जीवोंमें जिनका इस लोकमें रमणीय—शुभ चरण—शील होता है वे शुद्धाचारी जीव—जिनका रमणीयचरणसे उपलक्षित शुभ अनुशय यानी पुण्यकर्म होता है—वे रमणीयचरण कहलाते हैं। जो लोग क्रूरता, असत्य और कपटसे रहित हैं उन्हींमें शुभानुशयकी सत्ता देखी जा सकती है। चन्द्रमण्डलके भोगसे बचे हुए उस पुण्य अनुशय यानी कर्मसे वे अभ्यास—शीघ्र ही रमणीय—क्रूरता आदिसे रहित योनिको प्राप्त होते हैं। यहाँ 'यत्' शब्द क्रियाविशेषण है। अपने कर्मोंके अनुसार वे ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनिको प्राप्त करते हैं।

अथ पुनर्ये तद्विपरीताः कपूयचरणोपलक्षितकर्माणोऽशुभानुशया अभ्याशो ह यत्ते कपूयां यथाकर्म योनिमापद्येरन्कपूयामेव धर्मसंबन्धवर्जितां जुगुप्सितां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा स्वकर्मानुरूपेणैव॥ ७॥

किंतु उनसे विपरीत जो कपूयचरणसे उपलक्षित कर्मवाले अर्थात् अशुभ अनुशयवाले होते हैं वे शीघ्र ही अपने कर्मानुसार कपूययोनिको प्राप्त होते हैं। कपूय—धर्मसम्बन्धसे रहित अर्थात् निन्दनीय योनिको ही प्राप्त होते हैं। वे भी अपने कर्मोंके ही अनुसार कुत्तेकी योनि, सूकरयोनि अथवा चाण्डालयोनि प्राप्त करते हैं॥ ७॥

*चतुर्थ प्रश्नका उत्तर*

**( अशास्त्रीय प्रवृत्तिवालोंकी गति )**

**ये तु रमणीयचरणा द्विजातयस्ते स्वकर्मस्थाश्चेदिष्टादिकारिणस्ते धूमादिगत्या गच्छन्त्यागच्छन्ति च पुनः पुनर्घटीयन्त्रवत्। विद्यां चेत्प्राप्नुयुस्तदार्चिरादिना गच्छन्ति। यदा तु न विद्यासेविनो नापीष्टादिकर्म सेवन्ते तदा—**

किंतु जो शुभाचरणशील द्विजाति हैं वे यदि अपने कर्मोंमें स्थित रहकर इष्टादि कर्म करनेवाले होते हैं तो घटीयन्त्रके समान धूमादि मार्गसे पुनः-पुनः आते-जाते रहते हैं और यदि उन्हें [उपासनात्मक] विद्याकी प्राप्ति हो जाती है तो अर्चि आदि मार्गसे जाते हैं। और जिस समय वे न तो उपासना करनेवाले होते हैं और न इष्टादि कर्मोंका ही सेवन करते हैं, उस समय—

**अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयꣳस्थानं तेनासौ लोको न सम्पूर्यते तस्माज्जुगुप्सेत तदेष श्लोकः॥८॥**

इनमेंसे किसी मार्गद्वारा नहीं जाते। वे ये क्षुद्र और बारम्बार आने-जानेवाले प्राणी होते हैं। 'उत्पन्न होओ और मरो' यही उनका तृतीय स्थान होता है। इसी कारण यह परलोक नहीं भरता। अतः [इस संसारगतिसे] घृणा करनी चाहिये। इस विषयमें यह मन्त्र है—॥८॥

**अथैतयोः पथोर्यथोक्तयोरर्चिर्धूमादिलक्षणयोर्न कतरेण अन्यतरेण च नापियन्ति। तानीमानि भूतानि क्षुद्राणि दंशमशककीटादीन्यसकृदावर्तीनि**

वे इन पूर्वोक्त अर्चि आदि और धूमादि मार्गोंमेंसे किसी भी एकके द्वारा नहीं जाते। वे ये क्षुद्र प्राणी डाँस, मच्छर और कीड़े आदि बारम्बार आने-जानेवाले जीव होते हैं।

भवन्ति। अत उभयमार्ग-परिभ्रष्टा ह्यसकृज्जायन्ते म्रियन्ते चेत्यर्थः। तेषां जननमरण-सन्ततेरनुकरणमिदमुच्यते। जायस्व म्रियस्वेतीश्वरनिमित्तचेष्टोच्यते। जननमरणक्षणेनैव कालयापना भवति, न तु क्रियासु शोभनेषु भोगेषु वा कालोऽस्तीत्यर्थः।

एतत्क्षुद्रजन्तुलक्षणं तृतीयं पूर्वोक्तौ पन्थानावपेक्ष्य स्थानं संसरताम्, येनैवं दक्षिणमार्गगा अपि पुनरागच्छन्ति, अनधि-कृतानां ज्ञानकर्मणोरगमनमेव दक्षिणेन पथेति, तेनासौ लोको न सम्पूर्यते।

पञ्चमस्तु प्रश्नः पञ्चाग्नि-विद्यया व्याख्यातः। प्रथमो दक्षिणोत्तरमार्गाभ्यामपाकृतः।

दक्षिणोत्तरयोः पथोर्व्यावर्तनापि—

अतः तात्पर्य यह है कि वे इन दोनों ही मार्गोंसे परिभ्रष्ट होकर बारम्बार जन्मते-मरते रहते हैं। यह उनके जन्म-मरणकी अविच्छिन्न परम्पराका अनुकरण कहा जाता है; 'जन्म लो और मरो' यह ईश्वरसम्बन्धी चेष्टा बतलायी जाती है*। अर्थात् उनका समय जन्म लेने और मरनेमें ही जाता है, कर्म करने अथवा सुन्दर भोग भोगनेके लिये उन्हें अवकाश ही नहीं मिलता।

जन्म-मरण-परम्परामें पड़े हुए जीवोंका पहले दो मार्गोंकी अपेक्षा यह क्षुद्र जीवरूप तीसरा स्थान है। क्योंकि इस प्रकार दक्षिणमार्गगामी भी लौट आते हैं तथा ज्ञान और कर्मके अनधिकारियोंका तो दक्षिणमार्गसे वहाँ जाना भी नहीं होता, इसलिये यह परलोक नहीं भरता।

[उपर्युक्त प्रश्नोंमेंसे] पाँचवें प्रश्नकी व्याख्या पञ्चाग्निविद्याद्वारा की गयी; प्रथम प्रश्नका अपाकरण दक्षिण एवं उत्तरमार्गके वर्णनसे किया गया।

---

* तात्पर्य यह है कि उन जीवोंको दोनों मार्गोंसे पतित हुए देखकर मानो ईश्वर ही कहता है कि 'तुम जन्म लो और मरो।'

मृतानामग्नौ प्रक्षेपः समानः, ततो व्यावर्तना, अन्येऽर्चिरादिना यन्ति, अन्ये धूमादिना, पुनरुत्तरदक्षिणायने षण्मासान्प्राप्नुवन्तः संयुज्य पुनर्व्यावर्तन्ते, अन्ये संवत्सरमन्ये मासेभ्यः पितृलोकम्—इति व्याख्याता। पुनरावृत्तिरपि क्षीणानुशयानां चन्द्रमण्डलादाकाशादिक्रमेणोक्ता। अमुष्य लोकस्यापूरणं स्वशब्देनैवोक्तम्, तेनासौ लोको न सम्पूर्यत इति।

तथा—मरे हुए उपासक और कर्मठ इनको अग्निमें डालना एक समान होता है, वहाँसे आगे उनका वियोग होता है, उनमेंसे एक अर्चि आदि मार्गसे जाते हैं और दूसरे धूमादि मार्गसे; फिर उत्तरायण और दक्षिणायन—इन छः-छः मासोंको प्राप्त होकर वे एक बार मिलकर फिर बिछुड़ जाते हैं। उनमेंसे एक तो संवत्सरको प्राप्त होते हैं और दूसरे मासाभिमानी देवताओंसे पितृलोकको जाते हैं—इस प्रकार दक्षिण और उत्तर मार्गोंकी व्यावर्तना—व्यावृत्तिकी भी व्याख्या की गयी। जिनका अनुशय (कर्म) क्षीण हो गया है, उन जीवोंकी चन्द्रमण्डलसे आकाशादि क्रमसे पुनरावृत्ति भी बतला दी गयी। इस परलोककी अपूर्तिका तो 'तेनासौ लोको न सम्पूर्यते' ऐसे प्रत्यक्ष शब्दोंसे ही उल्लेख कर दिया गया।

यस्मादेवं कष्टा संसारगतिस्तस्माज्जुगुप्सेत। यस्माच्च जन्ममरणजनितवेदनानुभवकृतक्षणाः क्षुद्रजन्तवो ध्वान्ते च घोरे दुस्तरे प्रवेशिताः सागर इवागाधेऽप्लवे निराशाश्चोत्तरणं प्रति; तस्माच्चैवंविधां संसारगतिं जुगुप्सेत बीभत्सेत घृणी

क्योंकि इस प्रकार संसारगति अत्यन्त कष्टमयी है, इसलिये उससे घृणा करनी चाहिये। क्योंकि जन्म-मरणसे होनेवाली वेदनाके अनुभवमें ही जिनका समय जाता है वे क्षुद्र जीव नौकाहीन अगाध सागरके समान, जिसे पार करनेमें वे निराश रहते हैं, अति दुस्तर घोर अज्ञानान्धकारमें प्रविष्ट कर दिये जाते हैं; इसलिये इस प्रकारकी संसारगतिमें

भवेत्, मा भूदेवंविधे संसार-महोदधौ घोरे पात इति। तदेतस्मिन्नर्थ एष श्लोकः पञ्चाग्नि-विद्यास्तुतये॥८॥

जुगुप्सा—बीभत्सा अर्थात् घृणा करनी चाहिये कि इस प्रकारके घोर संसार महासागरमें हमारा पतन न हो। उसी अर्थमें पञ्चाग्निविद्याकी स्तुतिके लिये यह मन्त्र है॥८॥

*पाँच पतित*

**स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबꣳश्च गुरोस्तल्पमावस-न्ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरꣳस्तैरिति॥९॥**

सुवर्णका चोर, मद्य पीनेवाला, गुरुस्त्रीगामी, ब्रह्महत्यारा ये चारों पतित होते हैं और पाँचवाँ उनके साथ संसर्ग करनेवाला भी॥९॥

स्तेनो हिरण्यस्य ब्राह्मण-सुवर्णस्य हर्ता। सुरां पिबन्ब्राह्मणः सन्। गुरोश्च तल्पं दारानावसन्। ब्रह्महा ब्राह्मणस्य हन्ता चेत्येते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्च तैः सहाचरन्निति॥९॥

सुवर्णका चोर अर्थात् ब्राह्मणका सोना चुरानेवाला, ब्राह्मण होकर मदिरा पीनेवाला, गुरुके तल्प यानी पत्नीसे सहवास करनेवाला और ब्रह्महा—ब्राह्मणकी हत्या करनेवाला—ये चार पतित होते हैं और पाँचवाँ उनके साथ आचरण (व्यवहार) करनेवाला॥९॥

*पञ्चाग्निविद्याका महत्त्व*

**अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन्वेद न सह तैरप्याचर-न्पाप्मना लिप्यते शुद्धः पूतः पुण्यलोको भवति य एवं वेद य एवं वेद॥१०॥**

किन्तु जो इस प्रकार इन पञ्चाग्नियोंको जानता है वह उनके साथ आचरण (संसर्ग) करता हुआ भी पापसे लिप्त नहीं होता। वह शुद्ध पवित्र और पुण्यलोकका भागी होता है, जो इस प्रकार जानता है, जो इस प्रकार जानता है॥ १०॥

**अथ ह पुनर्यो यथोक्ता-न्पञ्चाग्नीन्वेद, स तैरप्याचर-न्महापातकिभिः सह न पाप्मना लिप्यते, शुद्ध एव। तेन पञ्चाग्नि-दर्शनेन पावितो यस्मात्पूतः, पुण्यो लोकः प्राजापत्यादिर्यस्य सोऽयं पुण्यलोको भवति। य एवं वेद यथोक्तं समस्तं पञ्चभिः प्रश्नैः पृष्टमर्थजातं वेद। द्विरुक्तिःसमस्तप्रश्ननिर्णयप्रदर्श-नार्था॥ १०॥**

किंतु जो उपर्युक्त पञ्चाग्नियोंको जानता है वह उन महापापियोंके साथ आचरण (व्यवहार) करता हुआ भी पापसे लिप्त नहीं होता, शुद्ध ही रहता है; क्योंकि उस पञ्चाग्निविद्यासे वह पवित्र हो जाता है इसलिये पुण्यलोक—जिसे ब्रह्मलोक आदि पवित्र लोककी प्राप्ति होती है ऐसा पुण्यलोक हो जाता है; जो कि इस प्रकार जानता है अर्थात् पाँच प्रश्नोंद्वारा पूछे हुए उपर्युक्त समस्त विषयको जानता है। द्विरुक्ति समस्त प्रश्नोंका निर्णय प्रदर्शित करनेके लिये है॥ १०॥

**इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये**

**दशमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम्॥ १०॥**

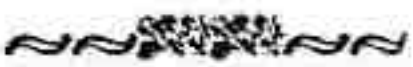

# एकादश खण्ड

दक्षिणेन पथा गच्छतामन्नभाव उक्तः—'तद्देवानामन्नम्' 'तं देवा भक्षयन्ति' इति; क्षुद्रजन्तुलक्षणा च कष्टा संसारगतिरुक्ता। तदुभयदोषपरिजिहीर्षया वैश्वानरात्तृभावप्रतिपत्त्यर्थमुत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते, 'अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम्' इत्यादिलिङ्गात्। आख्यायिका तु सुखावबोधार्था विद्यासंप्रदानन्यायप्रदर्शनार्था च।

'वह देवताओंका अन्न है, देवगण उसका भक्षण करते हैं'—ऐसा कहकर दक्षिणमार्गसे जानेवालोंके अन्नभावका प्रतिपादन किया गया तथा क्षुद्रजन्तुरूप संसारकी कष्टमयी गति भी बतलायी गयी। उन दोनों दोषोंको त्यागनेकी इच्छासे वैश्वानर संज्ञक भोक्तृत्वकी प्राप्तिके लिये आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है—जैसा कि 'तू अन्न भक्षण करता है, प्रियको देखता है' इत्यादि लिङ्गोंसे जाना जाता है। यहाँ जो आख्यायिका है वह सरलतासे समझानेके लिये और विद्याप्रदानकी उचित विधि प्रदर्शित करनेके लिये है।

*औपमन्यव आदिका आत्ममीमांसाविषयक प्रस्ताव*

**प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्ययज्ञः पौलुषिरिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो जनः शार्कराक्ष्यो बुडिल आश्वतराश्विस्ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमांसाञ्चक्रुः को न आत्मा किं ब्रह्मेति॥ १॥**

उपमन्युका पुत्र प्राचीनशाल, पुलुषका पुत्र सत्ययज्ञ, भल्लविके पुत्रका पुत्र इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्षका पुत्र जन और अश्वतराश्वका पुत्र बुडिल—ये

महागृहस्थ और परम श्रोत्रिय एकत्रित होकर परस्पर विचार करने लगे कि हमारा आत्मा कौन है और ब्रह्म क्या है?॥१॥

**प्राचीनशाल इति नामत उपमन्योरपत्यमौपमन्यवः। सत्ययज्ञो नामतः पुलुषस्यापत्यं पौलुषिः। तथेन्द्रद्युम्नो नामतो भल्लवेरपत्यं भाल्लविस्तस्यापत्यं भाल्लवेयः। जन इति नामतः शर्कराक्षस्यापत्यं शार्कराक्ष्यः। बुडिलो नामतोऽश्वतराश्वस्यापत्यमाश्वतराश्विः। पञ्चापि ते हैते महाशाला महागृहस्था विस्तीर्णाभिः शालाभिर्युक्ताः संपन्ना इत्यर्थः। महाश्रोत्रियाः श्रुताध्ययनवृत्तसंपन्ना इत्यर्थः। त एवंभूताः सन्तः समेत्य संभूय क्वचिन्मीमांसां विचारणां चक्रुः कृतवन्त इत्यर्थः।**

जो नामसे प्राचीनशाल था वह उपमन्युका पुत्र औपमन्यव, पुलुषका पुत्र पौलुषि जो नामसे सत्ययज्ञ था, भल्लविके पुत्रको भाल्लवि कहते हैं, उसका पुत्र भाल्लवेय जो नामसे इन्द्रद्युम्न था, जन ऐसे नामवाला शर्कराक्षका पुत्र शार्कराक्ष्य तथा बुडिल नामक अश्वतराश्वका पुत्र आश्वतराश्वि—ये पाँचों ही महाशाल—बड़े कुटुम्बी अर्थात् विस्तृत शालाओंसे युक्त तथा महाश्रोत्रिय अर्थात् श्रुत यानी शास्त्राध्ययन और सदाचारसे सम्पन्न थे। इस प्रकारके वे सब किसी समय आपसमें मिलकर मीमांसा अर्थात् विचार करने लगे।

**कथम्? को नोऽस्माकमात्मा? किं ब्रह्म? इत्यात्मब्रह्मशब्दयोरितरेतरविशेषणविशेष्यत्वम्। ब्रह्मेत्यध्यात्मपरिच्छिन्नमात्मानं निवर्तयत्यात्मेति चात्मव्यतिरिक्तस्यादित्यादिब्रह्मण उपास्यत्वं निवर्तयति। अभेदेनात्मैव ब्रह्म**

किस प्रकार विचार करने लगे?—'हमारा आत्मा कौन है? ब्रह्म क्या है?' यहाँ 'आत्मा' और 'ब्रह्म' शब्दोंका परस्पर विशेषण-विशेष्यभाव है। 'ब्रह्म' इस शब्दसे श्रुति देह-परिच्छिन्न आत्माके ग्रहणका निवारण करती है तथा 'आत्मा' इस शब्दसे आत्मासे भिन्न आदित्यादि ब्रह्मके उपास्यत्वकी निवृत्ति करती है। अतः

ब्रह्मैवात्मेत्येवं सर्वात्मा वैश्वानरो ब्रह्म स आत्मेत्येतत्सिद्धं भवति। "मूर्धा ते व्यपतिष्यत्" (छा० उ० ५।१२।२) "अन्धोऽभविष्यः" (५।१३।२) इत्यादिलिङ्गात्॥ १॥

दोनोंका अभेद होनेके कारण आत्मा ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही आत्मा है; अतः सर्वात्मा वैश्वानर ब्रह्म है और वही आत्मा है—यह सिद्ध होता है। यह बात [खण्ड १२ से १७ तक आये हुए] "तेरा मस्तक गिर जाता" "तू अन्धा हो जाता" इत्यादि लिङ्गोंसे जानी जाती है*॥ १॥

*औपमन्यवादिका उद्दालकके पास आना*

## ते ह संपादयाञ्चक्रुरुद्दालको वै भगवन्तोऽयमारुणिः

* आगे यह दिखलाया गया है कि आरुणिके सहित औपमन्यवादि पाँचों मुनि राजा अश्वपतिके पास गये और उससे वैश्वानर आत्माका उपदेश करनेके लिये प्रार्थना की। तब अश्वपतिने उनमेंसे प्रत्येकसे अलग-अलग यह प्रश्न किया कि तुम किसे वैश्वानर (विराट् रूप) समझकर उपासना करते हो? इसपर औपमन्यवने कहा कि मैं द्युलोकको वैश्वानर समझता हूँ। तब अश्वपति बोला—'यह वैश्वानर आत्माका मस्तक है। इसकी तुम समस्त वैश्वानर-बुद्धिसे उपासना करते हो इसलिये यद्यपि तुम्हारे यज्ञ-यागादि-सम्बन्धी सामग्रीकी बहुलता है तथापि यदि मेरे पास न आते तो इस अन्यथाग्रहणके दोषसे तुम्हारा मस्तक गिर जाता।' इसके पश्चात् उसने सत्ययज्ञसे पूछा तो वह बोला—'मैं आदित्यको वैश्वानर समझकर उपासना करता हूँ।' इसपर अश्वपतिने कहा—'यह उसका केवल नेत्र है; इसकी समस्त बुद्धिसे उपासना करनेके कारण यद्यपि तुम्हारे पास अनेक प्रकारकी सम्पत्ति दिखायी देती है तथापि यदि तुम मेरे पास न आते तो अन्धे हो जाते।' इसी प्रकार अन्य मुनियोंसे भी पूछा गया और यह देखकर कि उनमेंसे प्रत्येक ही वैश्वानर आत्माके किसी-न-किसी अङ्गकी ही उपासना करता है उसने उनकी व्यस्तोपासनाके परिणाममें उनके उन्हीं-उन्हीं अङ्गोंके भंग होनेका भय दिखलाते हुए अन्तमें अठारहवें खण्डमें वैश्वानरके स्वरूपका उपदेश किया है। यहाँ दो श्रुतियोंके प्रतीक देकर यह दिखलाया है कि भेदोपासनामें श्रुति भय प्रदर्शित करती है; इसलिये उसे आत्मा और ब्रह्मका अभेद ही अभिमत है।

**संप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तꣳहन्ताभ्यागच्छामेति तꣳहाभ्याजग्मुः ॥ २ ॥**

उन पूजनीयोंने स्थिर किया कि यह अरुणका पुत्र उद्दालक इस समय इस वैश्वानर आत्माको जानता है; अतः हम उसके पास चलें। ऐसा निश्चय कर वे उसके पास आये॥ २॥

**ते ह मीमांसन्तोऽपि निश्चयमलभमानाः संपादयाञ्चक्रुः संपादितवन्त आत्मन उपदेष्टारम्। उद्दालको वै प्रसिद्धो नामतो भगवन्तः पूजावन्तोऽयमारुणिररुणस्यापत्यं संप्रति सम्यगिममात्मानं वैश्वानरमस्मदभिप्रेतमध्येति स्मरति। तं हन्तेदानीमभ्यागच्छामेत्येवं निश्चित्य तं हाभ्याजग्मुर्गतवन्तस्तमारुणिकम्॥ २ ॥**

विचार करनेपर भी कोई निश्चय न होनेपर उन पूजावानोंने सम्पादन किया—अपना उपदेशक स्थिर किया। [वे बोले—] 'इस समय उद्दालक नामसे प्रसिद्ध यह अरुणका पुत्र आरुणि इस हमारे अभिप्रेत वैश्वानर आत्माको 'अध्येति'—स्मरण रखता यानी जानता है। अच्छा तो, अब उसके पास चलें।' इस प्रकार निश्चयकर वे उस आरुणिके पास आये॥ २॥

*उद्दालकका औपमन्यवादिके सहित अश्वपतिके पास आना*

**स ह संपादयाञ्चकार प्रक्ष्यन्ति मामिमे महाशाला महाश्रोत्रियास्तेभ्यो न सर्वमिव प्रतिपत्स्ये हन्ताहमन्यमभ्यनुशासानीति॥ ३ ॥**

उसने निश्चय किया ये परम श्रोत्रिय महागृहस्थ मुझसे प्रश्न करेंगे, किंतु मैं इन्हें पूरी तरहसे नहीं बतला सकूँगा,अतः मैं उन्हें दूसरा उपदेष्टा बतला दूँ॥ ३॥

स ह तान्दृष्ट्वैव तेषामागमन-प्रयोजनं बुद्ध्वा संपादया-ञ्चकार; कथम्? प्रक्ष्यन्ति मां वैश्वानरमिमे महाशाला महा-श्रोत्रियास्तेभ्योऽहं न सर्वमिव पृष्टं प्रतिपत्स्ये वक्तुं नोत्सहे। अतो हन्ताहमिदानीमन्य-मेषामभ्यनुशासानि वक्ष्या-म्युपदेष्टारमिति॥ ३॥

उन्हें देखते ही उसने उनके आनेका प्रयोजन समझकर [चित्तमें] स्थिर किया। किस प्रकार स्थिर किया? ये महागृहस्थ और परम श्रोत्रिय मुझसे वैश्वानरके विषयमें पूछेंगे। किंतु मैं इन्हें इनकी पूछी हुई बात पूरी तरह नहीं बतला सकूँगा। अतः मैं इस समय इन्हें एक दूसरे उपदेष्टाके लिये अनुशासन करता हूँ अर्थात् इन्हें दूसरा उपदेशक बतलाये देता हूँ॥ ३॥

एवं संपाद्य—

ऐसा निश्चय कर—

**तान्होवाचाश्वपतिर्वै भगवन्तोऽयं कैकेयः संप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तꣳहन्ताभ्यागच्छामेति तꣳ-हाभ्याजग्मुः॥ ४॥**

उसने उनसे कहा—'हे पूजनीयगण! इस समय केकयकुमार अश्वपति इस वैश्वानरसंज्ञक आत्माको अच्छी तरह जानता है। आइये, हम उसीके पास चलें।' ऐसा कहकर वे उसके पास चले गये॥ ४॥

**तान्होवाच—अश्वपतिर्वै नामतो भगवन्तोऽयं केकयस्यापत्यं कैकेयः संप्रति सम्यगिम-मात्मानं वैश्वानरमध्येतीत्यादि समानम्॥ ४॥**

उसने उनसे कहा—'हे भगवन्! इस समय केकयका पुत्र अश्वपति नामवाला कैकेय इस वैश्वानर आत्माको अच्छी तरह समझता है' इत्यादि अर्थ पूर्ववत् है॥ ४॥

*अश्वपतिद्वारा मुनियोंका स्वागत*

**तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथगर्हाणि कारयाञ्चकार स**

**ह प्रातः संजिहान उवाच न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतो यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद्भगवद्भ्यो दास्यामि वसन्तु भगवन्त इति॥५॥**

अपने पास आये हुए उन ऋषियोंका राजाने अलग-अलग सत्कार कराया। [दूसरे दिन] सबेरे उठते ही उसने कहा—'मेरे राज्यमें कोई चोर नहीं है तथा न अदाता, न मद्यप, न अनाहिताग्नि, न अविद्वान् और न परस्त्रीगामी ही है; फिर कुलटा स्त्री तो आयी ही कहाँसे? हे पूज्यगण! मैं भी यज्ञ करनेवाला हूँ। मैं एक-एक ऋत्विक्‌को जितना धन दूँगा उतना ही आपको भी दूँगा; अतः आपलोग यहीं ठहरिये'॥५॥

**तेभ्यो ह राजा प्रासेभ्यः पृथक्पृथगर्हाण्यर्हणानि पुरोहितैर्भृत्यैश्च कारयाञ्चकार कारितवान्। स ह्यन्येद्यू राजा प्रातः संजिहान उवाच विनयेनोपगम्यैतद्धनं मत्त उपादध्वमिति। तैः प्रत्याख्यातो मयि दोषं पश्यन्ति नूनं यतो न प्रतिगृह्णन्ति मत्तो धनमिति मन्वान आत्मनः सद्वृत्ततां प्रतिपिपादयिषन्नाह—न मे मम जनपदे स्तेनः परस्वहर्ता विद्यते। न कदर्योऽदाता सति विभवे। न मद्यपो द्विजोत्तमः सन्।**

अपने पास आये हुए उन ऋषियोंका राजाने पुरोहित और सेवकोंसे अलग-अलग सत्कार कराया। दूसरे दिन राजाने प्रातःकाल उठते ही उनके पास जाकर विनयपूर्वक कहा—आपलोग मुझसे यह धन ग्रहण कीजिये। तब उनके निषेध करनेपर यह सोचकर कि निश्चय ही ये मुझमें दोष देखते हैं, क्योंकि मुझसे धन नहीं लेते, अपने सदाचारका प्रतिपादन करनेकी इच्छासे उसने कहा—'मेरे राज्यमें कोई चोर—दूसरेका धन हरण करनेवाला नहीं है, न कोई कदर्य—सम्पत्ति रहते हुए दान न करनेवाला है, न कोई द्विजश्रेष्ठ मद्यपान करनेवाला है,

नानाहिताग्निः शतगुः। नाविद्वानधिकारानुरूपम्। न स्वैरी परदारेषु गन्ता। अत एव स्वैरिणी कुतो दुष्टचारिणी न संभवतीत्यर्थः।

तैश्च न वयं धनेनार्थिन इत्युक्त आहाल्पं मत्वैते धनं न गृह्णन्तीति। यक्ष्यमाणो वै कतिभिरहोभिरह हे भगवन्तोऽस्मि, तदर्थं क्लृप्तं धन मया यावदेकैकस्मै यथोक्तमृत्विजे धनं दास्यामि तावत्प्रत्येकं भगवद्भ्योऽपि दास्यामि। वसन्तु भगवन्तः पश्यन्तु च मम यागम्॥५॥

न सौ गौओंवाला होकर अनाहिताग्नि है; न अपने अधिकारके अनुरूप कोई अविद्वान् है और न कोई स्वैरी—परस्त्रियोंके प्रति गमन करनेवाला है; अतः स्वैरिणी भी कैसे हो सकती है? अर्थात् कोई दुराचारिणी स्त्री होनी भी सम्भव नहीं है।'

फिर उनके यह कहनेपर कि 'हम धनके अर्थी नहीं हैं' यह समझकर कि ये लोग थोड़ा मानकर धन नहीं लेते, उसने कहा—'हे पूज्यगण! कुछ दिनोंमें मैं यज्ञानुष्ठान करनेवाला हूँ, उसके लिये मैंने धनका संकल्प कर दिया है। उस समय शास्त्राज्ञानुसार मैं जितना-जितना धन एक-एक ऋत्विक्को दूँगा। उतना ही आपमेंसे प्रत्येकको भी दूँगा। अतः आपलोग यहीं ठहरिये और मेरा यज्ञ देखिये'॥५॥

*अश्वपतिके प्रति मुनियोंकी प्रार्थना*

इत्युक्ताः— | इस प्रकार कहे जानेपर—

**ते होचुर्येन हैवार्थेन पुरुषश्चरेत्तꣳहैव वदेदात्मानमेवेमं वैश्वानरꣳसंप्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीति॥६॥**

वे बोले—'जिस प्रयोजनसे कोई पुरुष कहीं जाता है उसे चाहिये कि अपने उसी प्रयोजनको कहे। इस समय आप वैश्वानर आत्माको जानते हैं, उसीका आप हमारे प्रति वर्णन कीजिये'॥६॥

ते होचुः—येन हैवार्थेन प्रयोजनेन यं प्रति चरेद्गच्छेत्पुरुषस्तं हैवार्थं वदेत्, इदमेव प्रयोजनमागमनस्येत्ययं न्यायः सताम्। वयं च वैश्वानरज्ञानार्थिनः। आत्मानमेवेमं वैश्वानरं संप्रत्यध्येषि सम्यग्जानासि। अतस्तमेव नोऽस्मभ्यं ब्रूहि॥ ६॥

वे बोले—जिस अर्थ यानी प्रयोजनसे कोई पुरुष किसीके पास जाय उसे अपना वह प्रयोजन बतला देना चाहिये कि 'मेरे आनेका केवल यही प्रयोजन है।' सत्पुरुषोंका ऐसा ही नियम है। हमलोग भी वैश्वानरको जाननेकी इच्छावाले हैं। इस समय आप इस वैश्वानर आत्माको अच्छी तरह जानते हैं; अतः हमारे प्रति उसीका वर्णन कीजिये॥ ६॥

*राजाके प्रति मुनियोंकी उपसत्ति*

इत्युक्तः— | इस प्रकार कहे जानेपर—

**तान्होवाच प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मीति ते ह समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे तान्हानुपनीयैवैतदुवाच॥ ७॥**

वह उनसे बोला—'अच्छा, मैं प्रातःकाल आपलोगोंको इसका उत्तर दूँगा।' तब दूसरे दिन वे पूर्वाह्णमें हाथमें समिधाएँ लेकर राजाके पास गये। उनका उपनयन न करके ही राजाने उस विद्याका उपदेश किया॥ ७॥

तान्होवाच—प्रातर्वो युष्मभ्यं प्रतिवक्तास्मि प्रतिवाक्यं दातास्मीत्युक्तास्ते ह राज्ञोऽभिप्रायज्ञाः समित्पाणयः समिद्धारहस्ता अपरेद्युः पूर्वाह्णे राजानं प्रतिचक्रमिरे गतवन्तः।

वह उनसे बोला—'मैं आपलोगोंको इसका उत्तर प्रातःकाल दूँगा।' इस प्रकार कहे जानेपर राजाके अभिप्रायको जाननेवाले वे मुनिगण दूसरे दिन पूर्वाह्णमें समित्पाणि—हाथोंमें समिधाएँ लिये राजाके पास आये।

यतः एवं महाशाला महाश्रोत्रिया ब्राह्मणाः सन्तो महाशालत्वाद्यभिमानं हित्वा समिद्भारहस्ता जातितो हीनं राजानं विद्यार्थिनो विनयेनोपजग्मुः, तथान्यैर्विद्योपादित्सुभिर्भवितव्यम्। तेभ्यश्चादाद्विद्यामनुपनीयैवोपनयनमकृत्वैव। तान्यथा योग्येभ्यो विद्यामदात्तथान्येनापि विद्या दातव्येत्याख्यायिकार्थः। एतद्वैश्वानरविज्ञानमुवाचेति वक्ष्यमाणेन संबन्धः॥ ७॥

क्योंकि इस प्रकार महागृहस्थ और परमश्रोत्रिय ब्राह्मण होनेपर भी वे महागृहस्थत्व आदिके अभिमानको छोड़कर हाथोंमें समिधाएँ ले विद्यार्थी बन अपनेसे हीन जातिवाले राजाके पास विनयपूर्वक गये थे इसलिये विद्योपार्जनकी इच्छावाले अन्य पुरुषोंको भी ऐसा ही होना चाहिये। तब राजाने उनका उपनयन न करके ही उन्हें विद्या दे दी। अतः इस आख्यायिकाका यही तात्पर्य है कि जिस प्रकार उन योग्य विद्यार्थियोंको राजाने विद्या दी थी उसी प्रकार दूसरोंको भी विद्यादान करना चाहिये। [मूलके 'एतत्' शब्दका] 'एतद् वैश्वानरविज्ञानमुवाच' इस प्रकार आगे कहे जानेवाले वैश्वानरविज्ञानसे सम्बन्ध है॥ ७॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये एकादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम्॥ ११॥

# द्वादश खण्ड

*अश्वपति और औपमन्यवका संवाद*

**स कथमुवाच? इत्याह—** | उसने किस प्रकार उपदेश दिया? सो बतलाते हैं—

**औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स इति। दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते॥ १॥**

[राजा—] 'हे उपमन्युकुमार! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो?' 'हे पूज्य राजन्! मैं द्युलोककी ही उपासना करता हूँ' ऐसा उसने उत्तर दिया। [राजा—] 'तुम जिस आत्माकी उपासना करते हो यह निश्चय ही 'सुतेजा' नामसे प्रसिद्ध वैश्वानर आत्मा है, इसीसे तुम्हारे कुलमें सुत, प्रसुत और आसुत दिखायी देते हैं'॥ १॥

**औपमन्यव हे कमात्मानं वै वैश्वानरं त्वमुपास्स इति पप्रच्छ।**

'हे औपमन्यव! तुम किस वैश्वानर आत्माकी उपासना करते हो?' ऐसा राजाने पूछा।

**नन्वयमन्याय आचार्यः सञ्शिष्यं पृच्छतीति।**

**शङ्का**—किंतु आचार्य होकर भी शिष्यसे पूछता है—यह तो अनुचित है।

**नैष दोषः; 'यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामि'**

**समाधान**—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि 'जो कुछ तू जानता है उसे बतलाकर तू मेरे प्रति उपसन्न हो; तब उससे आगे मैं